तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।। ३४।।

तत्—विभिन्न यज्ञों के उस ज्ञान को; **विद्धि**—जानने का प्रयास करो; **प्रणिपातेन**—गुरु के पास जाकर के; **परिप्रश्नेन**—विनीत जिज्ञासा से; **सेवया**—सेवा के द्वारा; **उपदेक्ष्यन्ति**—दीक्षित करेंगे; **ते**—तुमको; **ज्ञानम्**—ज्ञान में; **ज्ञानिनः**—स्वरूपसिद्ध; **तत्त्व**—तत्त्व के; **दर्शिनः**—दर्शी।

तुम गुरु के पास जाकर सत्य को जानने का प्रयास करो। उनसे विनीत होकर जिज्ञासा करो और उनकी सेवा करो। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति तुम्हें ज्ञान प्रदान कर सकते हैं, क्योंकि उन्होंने सत्य का दर्शन किया है।

तात्पर्य : निस्सन्देह आत्म-साक्षात्कार का मार्ग कठिन है अतः भगवान् का उपदेश है कि उन्हीं से प्रारम्भ होने वाली परम्परा से प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण की जाए। इस परम्परा के सिद्धान्त का पालन किये बिना कोई प्रामाणिक गुरु नहीं बन सकता। भगवान् आदि गुरु हैं, अतः गुरु-परम्परा का ही व्यक्ति अपने शिष्य को भगवान् का सन्देश प्रदान कर सकता है। कोई अपनी निजी विधि का निर्माण करके स्वरूपसिद्ध नहीं बन सकता जैसा कि आजकल के मूर्ख पाखंडी करने लगे हैं। *भागवत* का (६.३.१९) कथन है—*धर्मं तु साक्षात्भगवत्प्रणीतम्*—धर्मपथ का निर्माण स्वयं भगवान् ने किया है। अतएव मनोधर्म या शुष्क तर्क से सही पद प्राप्त नहीं हो सकता। न ही ज्ञानग्रंथों के स्वतन्त्र अध्ययन से ही कोई आध्यात्मिक जीवन में उन्नति कर सकता है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए उसे प्रामाणिक गुरु की शरण में जाना ही होगा। ऐसे गुरु को पूर्ण समर्पण करके ही स्वीकार करना चाहिए और अहंकाररहित होकर दास की भाँति गुरु की सेवा करनी चाहिए। स्वरूपसिद्ध गुरु की प्रसन्नता ही आध्यात्मिक जीवन की प्रगति का रहस्य है। जिज्ञासा और विनीत भाव के मेल से आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त होता है। बिना विनीत भाव तथा सेवा के विद्वान् गुरु से की गई जिज्ञासाएँ प्रभावपूर्ण नहीं होंगी। शिष्य को गुरु-परीक्षा में उत्तीर्ण होना चाहिए और जब गुरु शिष्य में वास्तविक इच्छा देखता है तो स्वतः ही शिष्य को आध्यात्मिक ज्ञान का आशीर्वाद देता है। इस श्लोक में अन्धानुगमन तथा निरर्थक जिज्ञासा—इन दोनों की भर्त्सना की गई है। शिष्य न केवल गुरु से विनीत होकर सुने, अपितु विनीत भाव तथा सेवा और जिज्ञासा द्वारा गुरु से स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करे। प्रामाणिक गुरु स्वभाव से शिष्य के प्रति दयालु होता है, अतः यदि शिष्य विनीत हो और सेवा में तत्पर रहे तो ज्ञान और जिज्ञासा का विनिमय पूर्ण हो जाता है।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।। ३५।।

यत्—जिसे; **ज्ञात्वा**—जानकर; **न**—कभी नहीं; **पुनः**—फिर; **मोहम्**—मोह को; **एवम्**—इस प्रकार; **यास्यसि**—प्राप्त होगे; **पाण्डव**—हे पाण्डवपुत्र; **येन**—जिससे; **भूतानि**—जीवों को; **अशेषेण**—समस्त; **द्रक्ष्यसि**—देखोगे; **आत्मनि**—परमात्मा में; **अथ उ**—अथवा अन्य शब्दों में; **मयि**—मुझमें।

स्वरूपसिद्ध व्यक्ति से वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर चुकने पर तुम पुनः कभी ऐसे मोह

को प्राप्त नहीं होगे क्योंकि इस ज्ञान के द्वारा तुम देख सकोगे कि सभी जीव परमात्मा के अंशस्वरूप हैं, अर्थात् वे सब मेरे हैं।

तात्पर्य : स्वरूपसिद्ध व्यक्ति से ज्ञान प्राप्त होने का परिणाम यह होता है कि यह पता चल जाता है कि सारे जीव भगवान् श्रीकृष्ण के भिन्न अंश हैं। कृष्ण से पृथक् अस्तित्व का भाव *माया* (मा—नहीं, या—यह) कहलाती है। कुछ लोग सोचते हैं कि हमें कृष्ण से क्या लेना देना है वे तो केवल महान ऐतिहासिक पुरुष हैं और परब्रह्म तो निराकार है। वस्तुतः जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है यह निराकार ब्रह्म कृष्ण का व्यक्तिगत तेज है। कृष्ण भगवान् के रूप में प्रत्येक वस्तु के कारण हैं। *ब्रह्मसंहिता* में स्पष्ट कहा गया है कि कृष्ण श्रीभगवान् हैं और सभी कारणों के कारण हैं। यहाँ तक कि लाखों अवतार उनके विभिन्न विस्तार ही हैं। इसी प्रकार सारे जीव भी कृष्ण के अंश हैं। मायावादियों की यह मिथ्या धारणा है कि कृष्ण अपने अनेक अंशों में अपने निजी पृथक् अस्तित्व को मिटा देते हैं। यह विचार सर्वथा भौतिक है। भौतिक जगत् में हमारा अनुभव है कि यदि किसी वस्तु का विखण्डन किया जाय तो उसका मूलस्वरूप नष्ट हो जाता है। किन्तु मायावादी यह नहीं समझ पाते कि परम का अर्थ है कि एक और एक मिलकर एक ही होता है और एक में से एक घटाने पर भी एक बचता है। परब्रह्म का यही स्वरूप है।

ब्रह्मविद्या का पर्याप्त ज्ञान न होने के कारण हम माया से आवृत हैं इसीलिए हम अपने को कृष्ण से पृथक् सोचते हैं। यद्यपि हम कृष्ण के भिन्न अंश हैं, किन्तु तो भी हम उनसे भिन्न नहीं हैं। जीवों का शारीरिक अन्तर माया है अथवा वास्तविक सत्य नहीं है। हम सभी कृष्ण को प्रसन्न करने के निमित्त हैं। केवल माया के कारण ही अर्जुन ने सोचा कि उसके स्वजनों से उसका क्षणिक शारीरिक सम्बन्ध कृष्ण के शाश्वत आध्यात्मिक सम्बन्धों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। *गीता* का सम्पूर्ण उपदेश इसी ओर लक्षित है कि कृष्ण का नित्य दास होने के कारण जीव उनसे पृथक् नहीं हो सकता, कृष्ण से अपने को विलग मानना ही माया कहलाती है। परब्रह्म के भिन्न अंश के रूप में जीवों को एक विशिष्ट उद्देश्य पूरा करना होता है। उस उद्देश्य को भुलाने के कारण ही वे अनादिकाल से मानव, पशु, देवता आदि देहों में स्थित हैं। ऐसे शारीरिक अन्तर भगवान् की दिव्य सेवा के विस्मरण से जनित हैं। किन्तु जब कोई कृष्णभावनामृत के माध्यम से दिव्य सेवा में लग जाता है तो वह इस माया से तुरन्त मुक्त हो जाता है। ऐसा ज्ञान केवल प्रामाणिक गुरु से ही प्राप्त हो सकता है और इस तरह वह इस भ्रम को दूर कर सकता है कि जीव कृष्ण के तुल्य है। पूर्णज्ञान तो यह है कि परमात्मा कृष्ण समस्त जीवों के परम आश्रय हैं और इस आश्रय को त्याग देने पर जीव माया द्वारा मोहित होते हैं, क्योंकि वे अपना अस्तित्व पृथक् समझते हैं। इस तरह विभिन्न भौतिक पहिचानों के मानदण्डों के अन्तर्गत वे कृष्ण को भूल जाते हैं। किन्तु जब ऐसे मोहग्रस्त जीव कृष्णभावनामृत में स्थित होते हैं तो यह समझा जाता है कि वे मुक्ति-पथ पर हैं जिसकी पुष्टि *भागवत* में (२.१०.६) की गई है—*मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।* मुक्ति का अर्थ है-—कृष्ण के नित्य दास रूप में (कृष्णभावनामृत में) अपनी स्वाभाविक स्थिति पर होना।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ ३६॥

अपि—भी; **चेत्**—यदि; **असि**—तुम हो; **पापेभ्यः**—पापियों से; **सर्वेभ्यः**—समस्त; **पाप-कृत्-तमः**—सर्वाधिक पापी; **सर्वम्**—ऐसे समस्त पापकर्म; **ज्ञान-प्लवेन**—दिव्यज्ञान की नाव द्वारा; **एव**—निश्चय ही; **वृजिनम्**—दुखों के सागर को; **सन्तरिष्यसि**—पूर्णतया पार कर जाओगे।

यदि तुम्हें समस्त पापियों में भी सर्वाधिक पापी समझा जाये तो भी तुम दिव्यज्ञान रूपी नाव में स्थित होकर दुख-सागर को पार करने में समर्थ होगे।

तात्पर्य : श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में अपनी स्वाभाविक स्थिति का सही-सही ज्ञान इतना उत्तम होता है कि अज्ञान-सागर में चलने वाले जीवन-संघर्ष से मनुष्य तुरन्त ही ऊपर उठ सकता है। यह भौतिक जगत् कभी-कभी अज्ञान सागर मान लिया जाता है तो कभी जलता हुआ जंगल। सागर में कोई कितना ही कुशल तैराक क्यों न हो, जीवन-संघर्ष अत्यन्त कठिन है। यदि कोई संघर्षरत तैरने वाले को आगे बढ़कर समुद्र से निकाल लेता है तो वह सबसे बड़ा रक्षक है। भगवान् से प्राप्त पूर्णज्ञान मुक्ति का पथ है। कृष्णभावनामृत की नाव अत्यन्त सुगम है, किन्तु उसी के साथ-साथ अत्यन्त उदात्त भी।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ ३७॥

यथा—जिस प्रकार से; **एधांसि**—ईंधन को; **समिद्धः**—जलती हुई; **अग्निः**—अग्नि; **भस्म-सात्**—राख; **कुरुते**—कर देती है; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **ज्ञान-अग्निः**—ज्ञान रूपी अग्नि; **सर्व-कर्माणि**—भौतिक कर्मों के समस्त फल को; **भस्मसात्**—भस्म, राख; **कुरुते**—करती है; **तथा**—उसी प्रकार से।

जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, उसी तरह हे अर्जुन! ज्ञान रूपी अग्नि भौतिक कर्मों के समस्त फलों को जला डालती है।

तात्पर्य : आत्मा तथा परमात्मा सम्बन्धी पूर्णज्ञान तथा उनके सम्बन्ध की तुलना यहाँ अग्नि से की गई है। यह अग्नि न केवल समस्त पापकर्मों के फलों को जला देती है, अपितु पुण्यकर्मों के फलों को भी भस्मसात् करने वाली है। कर्मफल की कई अवस्थाएँ हैं—शुभारम्भ, बीज, संचित आदि। किन्तु जीव को स्वरूप का ज्ञान होने पर सब कुछ भस्म हो जाता है चाहे वह पूर्ववर्ती हो या परवर्ती। वेदों में (*बृहदारण्यक उपनिषद्* ४.४.२२) कहा गया है—*उभे उहैवैष एते तरत्यमृतः साध्वसाधूनी*—"मनुष्य पाप तथा पुण्य दोनों ही प्रकार के कर्मफलों को जीत लेता है।"

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ ३८॥

न—कुछ भी नहीं; **हि**—निश्चय ही; **ज्ञानेन**—ज्ञान से; **सदृशम्**—तुलना में; **पवित्रम्**—पवित्र; **इह**—इस संसार में; **विद्यते**—है; **तत्**—उस; **स्वयम्**—अपने आप; **योग**—भक्ति में; **संसिद्धः**—परिपक्व होने पर; **कालेन**—यथासमय; **आत्मनि**—अपने आप में, अन्तर में; **विन्दति**—आस्वादन करता है।

इस संसार में दिव्यज्ञान के समान कुछ भी उदात्त तथा शुद्ध नहीं है। ऐसा ज्ञान समस्त योग का परिपक्व फल है। जो व्यक्ति भक्ति में सिद्ध हो जाता है, वह यथासमय अपने अन्तर में इस ज्ञान का आस्वादन करता है।

तात्पर्य : जब हम दिव्यज्ञान की बात करते हैं तो हमारा प्रयोजन आध्यात्मिक ज्ञान से होता है। निस्सन्देह दिव्यज्ञान के समान कुछ भी उदात्त तथा शुद्ध नहीं है। अज्ञान ही हमारे बन्धन का कारण है और ज्ञान हमारी मुक्ति का। यह ज्ञान भक्ति का परिपक्व फल है। जब कोई दिव्यज्ञान की अवस्था प्राप्त कर लेता है तो उसे अन्यत्र शान्ति खोजने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि वह मन ही मन शान्ति का आनन्द लेता रहता है। दूसरे शब्दों में, ज्ञान तथा शान्ति का पर्यवसान कृष्णभावनामृत में होता है। *भगवद्गीता* के सन्देश की यही चरम परिणति है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ ३९॥

श्रद्धा-वान्—श्रद्धालु व्यक्ति; **लभते**—प्राप्त करता है; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **तत्-परः**—उसमें अत्यधिक अनुरक्त; **संयत**—संयमित; **इन्द्रियः**—इन्द्रियाँ; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **लब्ध्वा**—प्राप्त करके; **पराम्**—दिव्य; **शान्तिम्**—शान्ति; **अचिरेण**—शीघ्र ही; **अधिगच्छति**—प्राप्त करता है।

जो श्रद्धालु दिव्यज्ञान में समर्पित है और जिसने इन्द्रियों को वश में कर लिया है, वह इस ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी है और इसे प्राप्त करते ही वह तुरन्त आध्यात्मिक शान्ति को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : श्रीकृष्ण में दृढ़विश्वास रखने वाला व्यक्ति ही इस तरह का कृष्णभावनाभावित ज्ञान प्राप्त कर सकता है। वही पुरुष श्रद्धावान कहलाता है जो यह सोचता है कि कृष्णभावनाभावित होकर कर्म करने से वह परमसिद्धि प्राप्त कर सकता है। यह श्रद्धा भक्ति के द्वारा तथा *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—मन्त्र के जाप द्वारा प्राप्त की जाती है क्योंकि इससे हृदय की सारी भौतिक मलिनता दूर हो जाती है। इसके अतिरिक्त मनुष्य को चाहिए कि अपनी इन्द्रियों पर संयम रखे। जो व्यक्ति कृष्ण के प्रति श्रद्धावान् है और जो इन्द्रियों को संयमित रखता है, वह शीघ्र ही कृष्णभावनामृत के ज्ञान में पूर्णता प्राप्त करता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ ४०॥

अज्ञः—मूर्ख, जिसे शास्त्रों का ज्ञान नहीं है; **च**—तथा; **अश्रद्दधानः**—शास्त्रों में श्रद्धा से विहीन; **च**—भी; **संशय**—शंकाग्रस्त; **आत्मा**—व्यक्ति; **विनश्यति**—गिर जाता है; **न**—न; **अयम्**—इस; **लोकः**—जगत में; **अस्ति**—है; **न**—न तो; **परः**—अगले जीवन में; **न**—नहीं; **सुखम्**—सुख; **संशय**—संशयग्रस्त; **आत्मनः**—व्यक्ति के लिए।

किन्तु जो अज्ञानी तथा श्रद्धाविहीन व्यक्ति शास्त्रों में संदेह करते हैं, वे

भगवद्भावनामृत नहीं प्राप्त करते, अपितु नीचे गिर जाते हैं। संशयात्मा के लिए न तो इस लोक में, न ही परलोक में कोई सुख है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* सभी प्रामाणिक एवं मान्य शास्त्रों में सर्वोत्तम है। जो लोग पशुतुल्य हैं उनमें न तो प्रामाणिक शास्त्रों के प्रति कोई श्रद्धा है और न उनका ज्ञान होता है और कुछ लोगों को यद्यपि उनका ज्ञान होता है और उनमें से वे उद्धरण देते रहते हैं, किन्तु उनमें वास्तविक विश्वास नहीं करते। यहाँ तक कि कुछ लोग जिनमें *भगवद्गीता* जैसे शास्त्रों में श्रद्धा होती भी है फिर भी वे न तो भगवान् कृष्ण में विश्वास करते हैं, न उनकी पूजा करते हैं। ऐसे लोगों को कृष्णभावनामृत का कोई ज्ञान नहीं होता। वे नीचे गिरते हैं। उपर्युक्त सभी कोटि के व्यक्तियों में जो श्रद्धालु नहीं हैं और सदैव संशयग्रस्त रहते हैं, वे तनिक भी उन्नति नहीं कर पाते। जो लोग ईश्वर तथा उनके वचनों में श्रद्धा नहीं रखते उन्हें न तो इस संसार में और न भावी लोक में कुछ हाथ लगता है। उनके लिए किसी भी प्रकार का सुख नहीं है। अतः मनुष्य को चाहिए कि श्रद्धाभाव से शास्त्रों के सिद्धान्तों का पालन करे और ज्ञान प्राप्त करे। इसी ज्ञान से मनुष्य आध्यात्मिक अनुभूति के दिव्य पद तक पहुँच सकता है। दूसरे शब्दों में, आध्यात्मिक उत्थान में संशयग्रस्त मनुष्यों को कोई स्थान नहीं मिलता। अतः मनुष्य को चाहिए कि परम्परा से चले आ रहे महान आचार्यों के पदचिन्हों का अनुसरण करे और सफलता प्राप्त करे।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥ ४१॥

योग—कर्मयोग में भक्ति से; **संन्यस्त**—जिसने त्याग दिये हैं; **कर्माणम्**—कर्मफलों को; **ज्ञान**—ज्ञान से; **सञ्छिन्न**—काट दिये हैं; **संशयम्**—सन्देह को; **आत्म-वन्तम्**—आत्मपरायण को; **न**—कभी नहीं; **कर्माणि**—कर्म; **निबध्नन्ति**—बाँधते हैं; **धनञ्जय**—हे सम्पत्ति के विजेता।

जो व्यक्ति अपने कर्मफलों का परित्याग करते हुए भक्ति करता है और जिसके संशय दिव्यज्ञान द्वारा विनष्ट हो चुके होते हैं वही वास्तव में आत्मपरायण है। हे धनञ्जय! वह कर्मों के बन्धन से नहीं बँधता।

तात्पर्य : जो मनुष्य *भगवद्गीता* की शिक्षा का उसी रूप में पालन करता है जिस रूप में भगवान् श्रीकृष्ण ने दी थी, तो वह दिव्यज्ञान की कृपा से समस्त संशयों से मुक्त हो जाता है। पूर्णतः कृष्णभावनाभावित होने के कारण उसे श्रीभगवान् के अंश रूप में अपने स्वरूप का ज्ञान पहले ही हो जाता है। अतएव निस्सन्देह वह कर्मबन्धन से मुक्त है।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ ४२॥

तस्मात्—अतः; **अज्ञान-सम्भूतम्**—अज्ञान से उत्पन्न; **हृत्स्थम्**—हृदय में स्थित; **ज्ञान**—ज्ञान रूपी; **असिना**—शस्त्र से; **आत्मनः**—स्व के; **छित्त्वा**—काट कर; **एनम्**—इस; **संशयम्**—संशय को; **योगम्**—योग में; **अतिष्ठ**—स्थित होओ; **उत्तिष्ठ**—युद्ध करने के लिए उठो; **भारत**—हे भरतवंशी।

अतएव तुम्हारे हृदय में अज्ञान के कारण जो संशय उठे हैं उन्हें ज्ञानरूपी शस्त्र से काट डालो। हे भारत! तुम योग से समन्वित होकर खड़े होओ और युद्ध करो।

तात्पर्य : इस अध्याय में जिस योगपद्धति का उपदेश हुआ है वह सनातन योग कहलाती है। इस योग में दो तरह के यज्ञकर्म किये जाते हैं—एक तो द्रव्य का यज्ञ और दूसरा आत्मज्ञान यज्ञ जो विशुद्ध आध्यात्मिक कर्म है। यदि आत्म-साक्षात्कार के लिए द्रव्ययज्ञ नहीं किया जाता तो ऐसा यज्ञ भौतिक बन जाता है। किन्तु जब कोई आध्यात्मिक उद्देश्य या भक्ति से ऐसा यज्ञ करता है तो वह पूर्णयज्ञ होता है। आध्यात्मिक क्रियाएँ भी दो प्रकार की होती हैं—आत्मबोध (या अपने स्वरूप को समझना) तथा श्रीभगवान् विषयक सत्य। जो *भगवद्गीता* के मार्ग का पालन करता है वह ज्ञान की इन दोनों श्रेणियों को समझ सकता है। उसके लिए भगवान् के अंश स्वरूप आत्मज्ञान को प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती है। ऐसा ज्ञान लाभप्रद है क्योंकि ऐसा व्यक्ति भगवान् के दिव्य कार्यकलापों को समझ सकता है। इस अध्याय के प्रारम्भ में स्वयं भगवान् ने अपने दिव्य कार्यकलापों का वर्णन किया है। जो व्यक्ति *गीता* के उपदेशों को नहीं समझता वह श्रद्धाविहीन है और जो भगवान् द्वारा उपदेश देने पर भी भगवान् के सच्चिदानन्द स्वरूप को नहीं समझ पाता तो यह समझना चाहिए कि वह निपट मूर्ख है। कृष्णभावनामृत के सिद्धान्तों को स्वीकार करके अज्ञान को क्रमशः दूर किया जा सकता है। यह कृष्णभावनामृत विविध देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, ब्रह्मचर्य यज्ञ, गृहस्थ यज्ञ, इन्द्रियसंयम यज्ञ, योग साधना यज्ञ, तपस्या यज्ञ, द्रव्ययज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ तथा वर्णाश्रमधर्म में भाग लेकर जागृत किया जा सकता है। ये सब यज्ञ कहलाते हैं और ये सब नियमित कर्म पर आधारित हैं। किन्तु इन सब कार्यकलापों के भीतर सबसे महत्त्वपूर्ण कारक आत्म-साक्षात्कार है। जो इस उद्देश्य को खोज लेता है वही *भगवद्गीता* का वास्तविक पाठक है, किन्तु जो कृष्ण को प्रमाण नहीं मानता वह नीचे गिर जाता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह सेवा तथा समर्पण समेत किसी प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में *भगवद्गीता* या अन्य किसी शास्त्र का अध्ययन करे। प्रामाणिक गुरु अनन्तकाल से चली आने वाली परम्परा में होता है और वह परमेश्वर के उन उपदेशों से तनिक भी विपथ नहीं होता जिन्हें उन्होंने लाखों वर्ष पूर्व सूर्यदेव को दिया था और जिनसे *भगवद्गीता* के उपदेश इस धराधाम में आये। अतः *गीता* में ही व्यक्त *भगवद्गीता* के पथ का अनुसरण करना चाहिए और उन लोगों से सावधान रहना चाहिए जो आत्म-श्लाघा वश अन्यों को वास्तविक पथ से विपथ करते रहते हैं। भगवान् निश्चित रूप से परमपुरुष हैं और उनके कार्यकलाप दिव्य हैं। जो इसे समझता है वह *भगवद्गीता* का अध्ययन शुभारम्भ करते ही मुक्त होता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के चतुर्थ अध्याय "दिव्य ज्ञान" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*

अध्याय पाँच

कर्मयोग – कृष्णभावनाभावित कर्म

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥१॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; **संन्यासम्**—संन्यास; **कर्मणाम्**—सम्पूर्ण कर्मों के; **कृष्ण**—हे कृष्ण; **पुनः**—फिर; **योगम्**—भक्ति; **च**—भी; **शंससि**—प्रशंसा करते हो; **यत्**—जो; **श्रेयः**—अधिक लाभप्रद है; **एतयोः**—इन दोनों में से; **एकम्**—एक; **तत्**—वह; **मे**—मेरे लिए; **ब्रूहि**—कहिये; **सु-निश्चितम्**—निश्चित रूप से।

अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण! पहले आप मुझसे कर्म त्यागने के लिए कहते हैं और फिर भक्तिपूर्वक कर्म करने का आदेश देते हैं। क्या आप अब कृपा करके निश्चित रूप से मुझे बताएँगे कि इन दोनों में से कौन अधिक लाभप्रद है?

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के इस पंचम अध्याय में भगवान् बताते हैं कि भक्तिपूर्वक किया

गया कर्म शुष्क चिन्तन से श्रेष्ठ है। भक्ति-पथ अधिक सुगम है, क्योंकि दिव्यस्वरूपा भक्ति मनुष्य को कर्मबन्धन से मुक्त करती है। द्वितीय अध्याय में आत्मा तथा उसके शरीर बन्धन का सामान्य ज्ञान बतलाया गया है। उसी में बुद्धियोग अर्थात् भक्ति द्वारा इस भौतिक बन्धन से निकलने का भी वर्णन हुआ है। तृतीय अध्याय में यह बताया गया है कि ज्ञानी को कोई कार्य नहीं करने पड़ते। चतुर्थ अध्याय में भगवान् ने अर्जुन को बताया है कि सारे यज्ञों का पर्यवसान ज्ञान में होता है, किन्तु चतुर्थ अध्याय के अन्त में भगवान् ने अर्जुन को सलाह दी कि वह पूर्णज्ञान से युक्त होकर, उठ करके युद्ध करे। अतः इस प्रकार एक ही साथ भक्तिमय कर्म तथा ज्ञानयुक्त-अकर्म की महत्ता पर बल देते हुए कृष्ण ने अर्जुन के संकल्प को भ्रमित कर दिया है। अर्जुन यह समझता है कि ज्ञानमय संन्यास का अर्थ है—इन्द्रियकार्यों के रूप में समस्त प्रकार के कार्यकलापों का परित्याग। किन्तु यदि भक्तियोग में कोई कर्म करता है तो फिर कर्म का किस तरह त्याग हुआ? दूसरे शब्दों में, वह यह सोचता है कि ज्ञानमय संन्यास को सभी प्रकार के कार्यों से मुक्त होना चाहिए क्योंकि उसे कर्म तथा ज्ञान असंगत से लगते हैं। ऐसा लगता है कि वह यह नहीं समझ पाया कि ज्ञान के साथ किया गया कर्म बन्धनकारी न होने के कारण अकर्म के ही तुल्य है। अतएव वह पूछता है कि वह सब प्रकार से कर्म त्याग दे या पूर्णज्ञान से युक्त होकर कर्म करे?

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ २॥

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; **संन्यासः**—कर्म का परित्याग; **कर्मयोगः**—निष्ठायुक्त कर्म; **च**—भी; **निःश्रेयस-करौ**—मुक्तिपथ को ले जाने वाले; **उभौ**—दोनों; **तयोः**—दोनों में से; **तु**—लेकिन; **कर्म-संन्यासात्**—सकामकर्मों के त्याग से; **कर्म-योगः**—निष्ठायुक्त कर्म; **विशिष्यते**—श्रेष्ठ है।

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया—मुक्ति के लिए तो कर्म का परित्याग तथा भक्तिमय-कर्म (कर्मयोग) दोनों ही उत्तम हैं। किन्तु इन दोनों में से कर्म के परित्याग से भक्तियुक्त कर्म श्रेष्ठ है।

तात्पर्य : सकाम कर्म (इन्द्रियतृप्ति में लगना) ही भवबन्धन का कारण है। जब तक मनुष्य शारीरिक सुख का स्तर बढ़ाने के उद्देश्य से कर्म करता रहता है तब तक वह विभिन्न प्रकार के शरीरों में देहान्तरण करते हुए भवबन्धन को बनाये रखता है। इसकी पुष्टि *भागवत* (५.५.४-६) में इस प्रकार हुई है—

नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति।
न साधु मन्ये यत आत्मनोऽयमसन्नपि क्लेशद आस देहः॥
पराभवस्तावदबोधजातो यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम्।
यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः॥
एवं मनः कर्मवशं प्रयुंक्ते अविद्ययात्मन्युपधीयमाने।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्॥

"लोग इन्द्रियतृप्ति के पीछे मत्त हैं। वे यह नहीं जानते कि उनका क्लेशों से युक्त यह शरीर उनके विगत सकाम-कर्मों का फल है। यद्यपि यह शरीर नाशवान है, किन्तु यह नाना प्रकार के कष्ट देता रहता है। अतः इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करना श्रेयस्कर नहीं है। जब तक मनुष्य अपने असली स्वरूप के विषय में जिज्ञासा नहीं करता, उसका जीवन व्यर्थ रहता है। और जब तक वह अपने स्वरूप को नहीं जान लेता तब तक उसे इन्द्रियतृप्ति के लिए सकाम कर्म करना पड़ता है, और जब तक वह इन्द्रियतृप्ति की इस चेतना में फँसा रहता है तब तक उसका देहान्तरण होता रहता है। भले ही उसका मन सकाम कर्मों में व्यस्त रहे और अज्ञान द्वारा प्रभावित हो, किन्तु उसे वासुदेव की भक्ति के प्रति प्रेम उत्पन्न करना चाहिए। केवल तभी वह भवबन्धन से छूटने का अवसर प्राप्त कर सकता है।"

अतः यह ज्ञान ही (कि वह आत्मा है शरीर नहीं) मुक्ति के लिए पर्याप्त नहीं। जीवात्मा के स्तर पर मनुष्य को कर्म करना होगा अन्यथा भवबन्धन से उबरने का कोई अन्य उपाय नहीं है। किन्तु कृष्णभावनाभावित होकर कर्म करना सकाम कर्म नहीं है। पूर्णज्ञान से युक्त होकर किये गये कर्म वास्तविक ज्ञान को बढ़ाने वाले हैं। बिना कृष्णभावनामृत के केवल कर्मों के परित्याग से बद्धजीव का हृदय शुद्ध नहीं होता। जब तक हृदय शुद्ध नहीं होता तब तक सकाम कर्म करना पड़ेगा। परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म कर्ता को स्वतः सकाम कर्म के फल से मुक्त बनाता है, जिसके कारण उसे भौतिक स्तर तक उतरना नहीं पड़ता। अतः कृष्णभावनाभावित कर्म संन्यास से सदा श्रेष्ठ होता है, क्योंकि संन्यास में नीचे गिरने की सम्भावना बनी रहती है। कृष्णभावनामृत से रहित संन्यास अपूर्ण है, जैसा कि श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृतसिन्धु* में (१.२.२५८) पुष्टि की है—

प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः।
मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते॥

"जब मुक्तिकामी व्यक्ति श्रीभगवान् से सम्बन्धित वस्तुओं को भौतिक समझ कर उनका परित्याग कर देते हैं, तो उनका संन्यास अपूर्ण कहलाता है।" संन्यास तभी पूर्ण माना जाता है जब यह ज्ञात हो कि संसार की प्रत्येक वस्तु भगवान् की है और कोई किसी भी वस्तु का स्वामित्व ग्रहण नहीं कर सकता। वस्तुतः मनुष्य को यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि उसका अपना कुछ भी नहीं है। तो फिर संन्यास का प्रश्न ही कहाँ उठता है? जो व्यक्ति यह समझता है कि सारी सम्पत्ति कृष्ण की है, वह नित्य संन्यासी है। प्रत्येक वस्तु कृष्ण की है, अतः उसका उपयोग कृष्ण के लिए किया जाना चाहिए। कृष्णभावनाभावित होकर इस प्रकार का पूर्ण कार्य करना मायावादी संन्यासी के कृत्रिम वैराग्य से कहीं उत्तम है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ ३॥

ज्ञेयः—जानना चाहिए; **सः**—वह; **नित्य**—सदैव; **संन्यासी**—संन्यासी; **यः**—जो; **न**—कभी नहीं; **द्वेष्टि**—घृणा करता है; **न**—न तो; **काङ्क्षति**—इच्छा करता है; **निर्द्वन्द्वः**—समस्त द्वैतताओं से मुक्त;

हि—निश्चय ही; **महाबाहो**—हे बलिष्ठ भुजाओं वाले; **सुखम्**—सुखपूर्वक; **बन्धात्**—बन्धन से; **प्रमुच्यते**—पूर्णतया मुक्त हो जाता है।

जो पुरुष न तो कर्मफलों से घृणा करता है और न कर्मफल की इच्छा करता है, वह नित्य संन्यासी जाना जाता है। हे महाबाहु अर्जुन! ऐसा मनुष्य समस्त द्वन्द्वों से रहित होकर भवबन्धन को पार कर पूर्णतया मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : पूर्णतया कृष्णभावनाभावित पुरुष नित्य संन्यासी है क्योंकि वह अपने कर्मफल से न तो घृणा करता है, न ही उसकी आकांक्षा करता है। ऐसा संन्यासी, भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति के परायण होकर पूर्णज्ञानी होता है क्योंकि वह कृष्ण के साथ अपनी स्वाभाविक स्थिति को जानता है। वह भलीभाँति जानता रहता है कि कृष्ण पूर्ण (अंशी) हैं और वह स्वयं अंशमात्र है। ऐसा ज्ञान पूर्ण होता है क्योंकि यह गुणात्मक तथा सकारात्मक रूप से सही है। कृष्ण-तादात्म्य की भावना भ्रान्त है क्योंकि अंश अंशी के तुल्य नहीं हो सकता। यह ज्ञान कि एकता गुणों की है न कि गुणों की मात्रा की, सही दिव्यज्ञान है, जिससे मनुष्य अपने आप में पूर्ण बनता है, जिसे न तो किसी वस्तु की आकांक्षा रहती है न किसी का शोक। उसके मन में किसी प्रकार का छल-कपट नहीं रहता क्योंकि वह जो कुछ भी करता है कृष्ण के लिए करता है। इस प्रकार छल-कपट से रहित होकर वह इस भौतिक जगत् से भी मुक्त हो जाता है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ ४॥

सांख्य—भौतिक जगत् का विश्लेषणात्मक अध्ययन; **योगौ**—भक्तिपूर्ण कर्म, कर्मयोग; **पृथक्**—भिन्न; **बालाः**—अल्पज्ञ; **प्रवदन्ति**—कहते हैं; **न**—कभी नहीं; **पण्डिताः**—विद्वान् जन; **एकम्**—एक में; **अपि**—भी; **आस्थितः**—स्थित; **सम्यक्**—पूर्णतया; **उभयोः**—दोनों का; **विन्दते**—भोग करता है; **फलम्**—फल।

अज्ञानी ही भक्ति (कर्मयोग) को भौतिक जगत् के विश्लेषणात्मक अध्ययन (सांख्य) से भिन्न कहते हैं। जो वस्तुतः ज्ञानी हैं वे कहते हैं कि जो इनमें से किसी एक मार्ग का भलीभाँति अनुसरण करता है, वह दोनों के फल प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य : भौतिक जगत् के विश्लेषणात्मक अध्ययन (सांख्य) का उद्देश्य आत्मा को प्राप्त करना है। भौतिक जगत् की आत्मा विष्णु या परमात्मा हैं। भगवान् की भक्ति का अर्थ परमात्मा की सेवा है। एक विधि से वृक्ष की जड़ खोजी जाती है और दूसरी विधि से उसको सींचा जाता है। सांख्यदर्शन का वास्तविक छात्र जगत् के मूल अर्थात् विष्णु को ढूँढता है और फिर पूर्णज्ञान समेत अपने को भगवान् की सेवा में लगा देता है। अतः मूलतः इन दोनों में कोई भेद नहीं है क्योंकि दोनों का उद्देश्य विष्णु की प्राप्ति है। जो लोग चरम उद्देश्य को नहीं जानते वे ही कहते हैं कि सांख्य और कर्मयोग एक नहीं हैं, किन्तु जो विद्वान् है वह जानता है कि इन दोनों भिन्न विधियों का उद्देश्य एक है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ ५॥

यत्–जो; **सांख्यैः**–सांख्यदर्शन के द्वारा; **प्राप्यते**–प्राप्त किया जाता है; **स्थानम्**–स्थान; **तत्**–वही; **योगैः**–भक्ति द्वारा; **अपि**–भी; **गम्यते**–प्राप्त कर सकता है; **एकम्**–एक; **सांख्यम्**–विश्लेषणात्मक अध्ययन को; **च**–तथा; **योगम्**–भक्तिमय कर्म को; **च**–तथा; **यः**–जो; **पश्यति**–देखता है; **सः**–वह; **पश्यति**–वास्तव में देखता है।

जो यह जानता है कि विश्लेषणात्मक अध्ययन (सांख्य) द्वारा प्राप्य स्थान भक्ति द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है, और इस तरह जो सांख्ययोग तथा भक्तियोग को एकसमान देखता है, वही वस्तुओं को यथारूप में देखता है।

तात्पर्य : दार्शनिक शोध (सांख्य) का वास्तविक उद्देश्य जीवन के चरमलक्ष्य की खोज है। चूँकि जीवन का चरमलक्ष्य आत्म-साक्षात्कार है, अतः इन दोनों विधियों से प्राप्त होने वाले परिणामों में कोई अन्तर नहीं है। सांख्य दार्शनिक शोध के द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है कि जीव भौतिक जगत् का नहीं अपितु पूर्ण परमात्मा का अंश है। फलतः जीवात्मा का भौतिक जगत् से कोई सरोकार नहीं होता, उसके सारे कार्य परमेश्वर से सम्बद्ध होने चाहिए। जब वह कृष्णभावनामृतवश कार्य करता है तभी वह अपनी स्वाभाविक स्थिति में होता है। सांख्य विधि में मनुष्य को पदार्थ से विरक्त होना पड़ता है और भक्तियोग में उसे कृष्णभावनाभावित कर्म में आसक्त होना होता है। वस्तुतः दोनों ही विधियाँ एक हैं, यद्यपि ऊपर से एक विधि में विरक्ति दीखती है और दूसरे में आसक्ति है। जो पदार्थ से विरक्ति और कृष्ण में आसक्ति को एक ही तरह देखता है, वही वस्तुओं को यथारूप में देखता है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥ ६॥

संन्यासः–संन्यास आश्रम; **तु**–लेकिन; **महाबाहो**–हे बलिष्ठ भुजाओं वाले; **दुःखम्**–दुख; **आप्तुम्**–से प्रभावित; **अयोगतः**–भक्ति के बिना; **योग-युक्तः**–भक्ति में लगा हुआ; **मुनिः**–चिन्तक; **ब्रह्म**–परमेश्वर को; **न चिरेण**–शीघ्र ही; **अधिगच्छति**–प्राप्त करता है।

भक्ति में लगे बिना केवल समस्त कर्मों का परित्याग करने से कोई सुखी नहीं बन सकता। परन्तु भक्ति में लगा हुआ विचारवान व्यक्ति शीघ्र ही परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य : संन्यासी दो प्रकार के होते हैं। मायावादी संन्यासी सांख्यदर्शन के अध्ययन में लगे रहते हैं तथा वैष्णव संन्यासी वेदान्त सूत्रों के यथार्थ भाष्य भागवत-दर्शन के अध्ययन में लगे रहते हैं। मायावादी संन्यासी भी वेदान्त सूत्रों का अध्ययन करते हैं, किन्तु वे शंकराचार्य द्वारा प्रणीत शारीरिक भाष्य का उपयोग करते हैं। भागवत सम्प्रदाय के छात्र पांचरात्रिकी विधि से भगवान् की भक्ति करने में लगे रहते हैं। अतः वैष्णव संन्यासियों

को भगवान् की दिव्यसेवा के लिए अनेक प्रकार के कार्य करने होते हैं। उन्हें भौतिक कार्यों से कोई सरोकार नहीं रहता, किन्तु तो भी वे भगवान् की भक्ति में नाना प्रकार के कार्य करते हैं। किन्तु मायावादी संन्यासी, जो सांख्य तथा वेदान्त के अध्ययन एवं चिन्तन में लगे रहते हैं, वे भगवान् की दिव्य भक्ति का आनन्द नहीं उठा पाते। चूँकि उनका अध्ययन अत्यन्त जटिल हो जाता है, अतः वे कभी-कभी ब्रह्मचिन्तन से ऊब कर समुचित बोध के बिना ही भागवत की शरण ग्रहण करते हैं। फलस्वरूप *श्रीमद्भागवत* का भी अध्ययन उनके लिए कष्टकर होता है। मायावादी संन्यासियों का शुष्क चिन्तन तथा कृत्रिम साधनों से निर्विशेष विवेचना उनके लिए व्यर्थ होती हैं। भक्ति में लगे हुए वैष्णव संन्यासी अपने दिव्य कर्मों को करते हुए प्रसन्न रहते हैं और यह भी निश्चित रहता है कि वे भगवद्धाम को प्राप्त होंगे। मायावादी संन्यासी कभी-कभी आत्म-साक्षात्कार के पथ से नीचे गिर जाते हैं और फिर से समाजसेवा, परोपकार जैसे भौतिक कर्म में प्रवृत्त होते हैं। अतः निष्कर्ष यह निकला कि कृष्णभावनामृत के कार्यों में लगे रहने वाले लोग ब्रह्म-अब्रह्म विषयक साधारण चिन्तन में लगे संन्यासियों से श्रेष्ठ हैं, यद्यपि वे भी अनेक जन्मों के बाद कृष्णभावनाभावित हो जाते हैं।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ७॥

योग-युक्तः—भक्ति में लगे हुए; **विशुद्ध-आत्मा**—शुद्ध आत्मा; **विजित-आत्मा**—आत्म-संयमी; **जित-इन्द्रियः**—इन्द्रियों को जीतने वाला; **सर्व-भूत**—समस्त जीवों के प्रति; **आत्म-भूत-आत्मा**—दयालु; **कुर्वन् अपि**—कर्म में लगे रहकर भी; **न**—कभी नहीं; **लिप्यते**—बँधता है।

जो भक्तिभाव से कर्म करता है, जो विशुद्ध आत्मा है और अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में रखता है, वह सबों को प्रिय होता है और सभी लोग उसे प्रिय होते हैं। ऐसा व्यक्ति कर्म करता हुआ भी कभी नहीं बँधता।

तात्पर्य : जो कृष्णभावनामृत के कारण मुक्तिपथ पर है वह प्रत्येक जीव को प्रिय होता है और प्रत्येक जीव उसके लिए प्यारा है। यह कृष्णभावनामृत के कारण होता है। ऐसा व्यक्ति किसी भी जीव को कृष्ण से पृथक् नहीं सोच पाता, जिस प्रकार वृक्ष की पत्तियाँ तथा टहनियाँ वृक्ष से भिन्न नहीं होतीं। वह भलीभाँति जानता है कि वृक्ष की जड़ में डाला गया जल समस्त पत्तियों तथा टहनियों में फैल जाता है अथवा आमाशय को भोजन देने से शक्ति स्वतः पूरे शरीर में फैल जाती है। चूँकि कृष्णभावनामृत में कर्म करने वाला सबों का दास होता है, अतः वह हर एक को प्रिय होता है। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति उसके कर्म से प्रसन्न रहता है, अतः उसकी चेतना शुद्ध रहती है। चूँकि उसकी चेतना शुद्ध रहती है, अतः उसका मन पूर्णतया नियंत्रण में रहता है। मन के नियंत्रित होने से उसकी इन्द्रियाँ संयमित रहती हैं। चूँकि उसका मन सदैव कृष्ण में स्थिर रहता है, अतः उसके विचलित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। न ही उसे कृष्ण से सम्बद्ध कथाओं के अतिरिक्त अन्य कार्यों में अपनी इन्द्रियों को लगाने का अवसर मिलता है। वह कृष्णकथा के अतिरिक्त और कुछ सुनना नहीं चाहता, वह कृष्ण को अर्पित किए हुए भोजन के

अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं खाना चाहता और न ऐसे किसी स्थान में जाने की इच्छा रखता है जहाँ कृष्ण सम्बन्धी कार्य न होता हो। अतः उसकी इन्द्रियाँ वश में रहती हैं। ऐसा व्यक्ति जिसकी इन्द्रियाँ संयमित हों, वह किसी के प्रति अपराध नहीं कर सकता। इस पर कोई यह प्रश्न कर सकता है, तो फिर अर्जुन अन्यों के प्रति युद्ध में आक्रामक क्यों था? क्या वह कृष्णभावनाभावित नहीं था? वस्तुतः अर्जुन ऊपर से ही आक्रामक था, क्योंकि जैसा कि द्वितीय अध्याय में बताया जा चुका है, आत्मा के अवध्य होने के कारण युद्धभूमि में एकत्र हुए सारे व्यक्ति अपने-अपने स्वरूप में जीवित बने रहेंगे। अतः आध्यात्मिक दृष्टि से कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में कोई मारा नहीं गया। वहाँ पर स्थित कृष्ण की आज्ञा से केवल उनके वस्त्र बदल दिये गये। अतः अर्जुन कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में युद्ध करता हुआ भी वस्तुतः युद्ध नहीं कर रहा था। वह तो पूर्ण कृष्णभावनामृत में कृष्ण के आदेश का पालन मात्र कर रहा था। ऐसा व्यक्ति कभी कर्मबन्धन से नहीं बँधता।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन्॥ ८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ ९॥

न—नहीं; **एव**—निश्चय ही; **किञ्चित्**—कुछ भी; **करोमि**—करता हूँ; **इति**—इस प्रकार; **युक्तः**—दैवी चेतना में लगा हुआ; **मन्येत**—सोचता है; **तत्त्ववित्**—सत्य को जानने वाला; **पश्यन्**—देखता हुआ; **शृण्वन्**—सुनता हुआ; **स्पृशन्**—स्पर्श करता हुआ; **जिघ्रन्**—सूँघता हुआ; **अश्नन्**—खाता हुआ; **गच्छन्**—जाता हुआ; **स्वपन्**—स्वप्न देखता हुआ; **श्वसन्**—साँस लेता हुआ; **प्रलपन्**—बात करता हुआ; **विसृजन्**—त्यागता हुआ; **गृह्णन्**—स्वीकार करता हुआ; **उन्मिषन्**—खोलता हुआ; **निमिषन्**—बन्द करता हुआ; **अपि**—तो भी; **इन्द्रियाणि**—इन्द्रियों को; **इन्द्रिय-अर्थेषु**—इन्द्रिय-तृप्ति में; **वर्तन्ते**—लगी रहने देकर; **इति**—इस प्रकार; **धारयन्**—विचार करते हुए।

दिव्य भावनामृत युक्त पुरुष देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, खाते, चलते-फिरते, सोते तथा श्वास लेते हुए भी अपने अन्तर में सदैव यही जानता रहता है कि वास्तव में वह कुछ भी नहीं करता। बोलते, त्यागते, ग्रहण करते या आँखें खोलते-बन्द करते हुए भी वह यह जानता रहता है कि भौतिक इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त हैं और वह इन सबसे पृथक् है।

तात्पर्य : चूँकि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति का जीवन शुद्ध होता है फलतः उसे निकट तथा दूरस्थ पाँच कारणों—कर्ता, कर्म, अधिष्ठान, प्रयास तथा भाग्य—पर निर्भर किसी कार्य से कुछ लेना-देना नहीं रहता। इसका कारण यही है कि वह भगवान् की दिव्य सेवा में लगा रहता है। यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपने शरीर तथा इन्द्रियों से कर्म कर रहा है, किन्तु वह अपनी वास्तविक स्थिति के प्रति सचेत रहता है जो कि आध्यात्मिक व्यस्तता है। भौतिक चेतना में इन्द्रियाँ इन्द्रियतृप्ति में लगी रहती हैं, किन्तु कृष्णभावनामृत में वे कृष्ण की इन्द्रियों की तुष्टि में लगी रहती हैं। अतः

कृष्णभावनाभावित व्यक्ति सदा मुक्त रहता है, भले ही वह ऊपर से भौतिक कार्यों में लगा हुआ दिखाई पड़े। देखने तथा सुनने के कार्य ज्ञानेन्द्रियों के कर्म हैं जबकि चलना, बोलना, मल त्यागना आदि कर्मेन्द्रियों के कार्य हैं। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी भी इन्द्रियों के कार्यों से प्रभावित नहीं होता। वह भगवत्सेवा के अतिरिक्त कोई दूसरा कार्य नहीं कर सकता क्योंकि उसे ज्ञात है कि वह भगवान् का शाश्वत दास है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥१०॥

ब्रह्मणि—भगवान् में; **आधाय**—समर्पित करके; **कर्माणि**—सारे कार्यों को; **सङ्गम्**—आसक्ति; **त्यक्त्वा**—त्यागकर; **करोति**—करता है; **यः**—जो; **लिप्यते**—प्रभावित होता है; **न**—कभी नहीं; **सः**—वह; **पापेन**—पाप से; **पद्म-पत्रम्**—कमल पत्र; **इव**—के सदृश; **अम्भसा**—जल के द्वारा।

जो व्यक्ति कर्मफलों को परमेश्वर को समर्पित करके आसक्तिरहित होकर अपना कर्म करता है, वह पापकर्मों से उसी प्रकार अप्रभावित रहता है, जिस प्रकार कमलपत्र जल से अस्पृश्य रहता है।

तात्पर्य : यहाँ पर *ब्रह्मणि* का अर्थ "कृष्णभावनामृत में" है। यह भौतिक जगत् प्रकृति के तीन गुणों की समग्र अभिव्यक्ति है जिसे *प्रधान* की संज्ञा दी जाती है। वेदमन्त्र *सर्वं ह्येतद्ब्रह्म* (*माण्डूक्य उपनिषद्* २), *तस्माद् एतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते* (*मुण्डक उपनिषद्* १.२.१०) तथा *भगवद्गीता* में (१४.३) *मम योनिर्महद्ब्रह्म* से प्रकट है कि जगत् की प्रत्येक वस्तु ब्रह्म की अभिव्यक्ति है और यद्यपि कार्य भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट होते हैं, किन्तु तो भी वे कारण से अभिन्न हैं। *ईशोपनिषद्* में कहा गया है कि सारी वस्तुएँ परब्रह्म या कृष्ण से सम्बन्धित हैं, अतएव वे केवल उन्हीं की हैं। जो यह भलीभाँति जानता है कि प्रत्येक वस्तु कृष्ण की है और वे ही प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं अतः प्रत्येक वस्तु भगवान् की सेवा में ही नियोजित है, उसे स्वभावतः शुभ-अशुभ कर्मफलों से कोई प्रयोजन नहीं रहता। यहाँ तक कि विशेष प्रकार का कर्म सम्पन्न करने के लिए भगवान् द्वारा प्रदत्त मनुष्य का शरीर भी कृष्णभावनामृत में संलग्न किया जा सकता है। तब यह पापकर्मों के कल्मष से वैसे ही परे रहता है जैसे कि कमलपत्र जल में रहकर भी भीगता नहीं। भगवान् *गीता* (३.३०)में भी कहते हैं—*मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य*——सम्पूर्ण कर्मों को मुझे (कृष्ण को) समर्पित करो। तात्पर्य यह कि कृष्णभावनामृत-विहीन पुरुष शरीर एवं इन्द्रियों को अपना स्वरूप समझ कर कर्म करता है, किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति यह समझ कर कर्म करता है कि यह देह कृष्ण की सम्पत्ति है, अतः इसे कृष्ण की सेवा में प्रवृत्त होना चाहिए।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥११॥

कायेन—शरीर से; **मनसा**—मन से; **बुद्ध्या**—बुद्धि से; **केवलैः**—शुद्ध; **इन्द्रियैः**—इन्द्रियों से; **अपि**—भी; **योगिनः**—कृष्णभावनाभावित व्यक्ति; **कर्म**—कर्म; **कुर्वन्ति**—करते हैं; **सङ्गम्**—आसक्ति; **त्यक्त्वा**—त्याग

कर; आत्म–आत्मा की; शुद्धये–शुद्धि के लिए।

योगीजन आसक्तिरहित होकर शरीर, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के द्वारा भी केवल शुद्धि के लिए कर्म करते हैं।

तात्पर्य : जब कोई कृष्णभावनामृत में कृष्ण की इन्द्रियतृप्ति के लिए शरीर, मन, बुद्धि अथवा इन्द्रियों द्वारा कर्म करता है तो वह भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के कार्यों से कोई भौतिक फल प्रकट नहीं होता। अतः सामान्य रूप से सदाचार कहे जाने वाले शुद्ध कर्म कृष्णभावनामृत में रहते हुए सरलता से सम्पन्न किये जा सकते हैं। श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृत सिन्धु* में (१.२.१८७) इसका वर्णन इस प्रकार किया है–

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।
निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

"अपने शरीर, मन, बुद्धि तथा वाणी से कृष्णभावनामृत में कर्म करता हुआ (कृष्णसेवा में) व्यक्ति इस संसार में भी मुक्त रहता है, भले ही वह तथाकथित अनेक भौतिक कार्यकलापों में व्यस्त क्यों न रहे।" उसमें अहंकार नहीं रहता क्योंकि वह इसमें विश्वास नहीं रखता कि वह भौतिक शरीर है अथवा यह शरीर उसका है। वह जानता है कि वह यह शरीर नहीं है और न यह शरीर ही उसका है। वह स्वयं कृष्ण का है और उसका यह शरीर भी कृष्ण की सम्पत्ति है। जब वह शरीर, मन, बुद्धि, वाणी, जीवन, सम्पत्ति आदि से उत्पन्न प्रत्येक वस्तु को, जो भी उसके अधिकार में है, कृष्ण की सेवा में लगाता है तो वह तुरन्त कृष्ण से जुड़ जाता है। वह कृष्ण से एकरूप हो जाता है और उस अहंकार से रहित होता है जिसके कारण मनुष्य सोचता है कि मैं शरीर हूँ। यही कृष्णभावनामृत की पूर्णावस्था है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥१२॥

युक्तः–भक्ति में लगा हुआ; **कर्म-फलम्**–समस्त कर्मों के फल; **त्यक्त्वा**–त्यागकर; **शान्तिम्**–पूर्ण शान्ति को; **आप्नोति**–प्राप्त करता है; **नैष्ठिकीम्**–अचल; **अयुक्तः**–कृष्णभावना से रहित; **काम-कारेण**–कर्मफल को भोगने के कारण; **फले**–फल में; **सक्तः**–आसक्त; **निबध्यते**–बँधता है।

निश्चल भक्त शुद्ध शान्ति प्राप्त करता है क्योंकि वह समस्त कर्मफल मुझे अर्पित कर देता है, किन्तु जो व्यक्ति भगवान् से युक्त नहीं है और जो अपने श्रम का फलकामी है, वह बँध जाता है।

तात्पर्य : एक कृष्णभावनाभावित व्यक्ति तथा एक देहात्मबुद्धि वाले व्यक्ति में यह अन्तर है कि पहला तो कृष्ण के प्रति आसक्त रहता है जबकि दूसरा अपने कर्मों के फल के प्रति आसक्त रहता है। जो व्यक्ति कृष्ण के प्रति आसक्त रहकर उन्हीं के लिए कर्म करता है वह निश्चय ही मुक्त पुरुष है और उसे अपने कर्मफल की कोई चिन्ता नहीं होती। *भागवत* में किसी कर्म के फल की चिन्ता का कारण परम सत्य के ज्ञान के बिना द्वैतभाव

में रहकर कर्म करना बताया गया है। कृष्ण श्रीभगवान् हैं। कृष्णभावनामृत में कोई द्वैत नहीं रहता। जो कुछ विद्यमान है वह कृष्ण की शक्ति का प्रतिफल है और कृष्ण सर्वमंगलमय हैं। अतः कृष्णभावनामृत में सम्पन्न सारे कार्य परम पद पर हैं। वे दिव्य होते हैं और उनका कोई भौतिक प्रभाव नहीं पड़ता। इस कारण कृष्णभावनामृत में जीव शान्ति से पूरित रहता है। किन्तु जो इन्द्रियतृप्ति के लिए लाभ के लोभ में फँसा रहता है, उसे शान्ति नहीं मिल सकती। यही कृष्णभावनामृत का रहस्य है—यह अनुभूति कि कृष्ण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, शान्ति तथा अभय का पद है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥१३॥

सर्व—समस्त; **कर्माणि**—कर्मों को; **मनसा**—मन से; **संन्यस्य**—त्यागकर; **आस्ते**—रहता है; **सुखम्**—सुख में; **वशी**—संयमी; **नव-द्वारे**—नौ द्वारों वाले; **पुरे**—नगर में; **देही**—देहवान् आत्मा; **न**—नहीं; **एव**—निश्चय ही; **कुर्वन्**—करता हुआ; **न**—नहीं; **कारयन्**—कराता हुआ।

जब देहधारी जीवात्मा अपनी प्रकृति को वश में कर लेता है और मन से समस्त कर्मों का परित्याग कर देता है तब वह नौ द्वारों वाले नगर (भौतिक शरीर) में बिना कुछ किये कराये सुखपूर्वक रहता है।

तात्पर्य : देहधारी जीवात्मा नौ द्वारों वाले नगर में वास करता है। शरीर अथवा नगर रूपी शरीर के कार्य प्राकृतिक गुणों द्वारा स्वतः सम्पन्न होते हैं। शरीर की परिस्थितियों के अनुसार रहते हुए भी जीव इच्छानुसार इन परिस्थितियों के परे भी हो सकता है। अपनी परा प्रकृति को विस्मृत करने के ही कारण वह अपने को शरीर समझ बैठता है और इसीलिए कष्ट पाता है। कृष्णभावनामृत के द्वारा वह अपनी वास्तविक स्थिति को पुनः प्राप्त कर सकता है और इस देह-बन्धन से मुक्त हो सकता है। अतः ज्योंही कोई कृष्णभावनामृत को प्राप्त होता है तुरन्त ही वह शारीरिक कार्यों से सर्वथा विलग हो जाता है। ऐसे संयमित जीवन में, जिसमें उसकी कार्यप्रणाली में परिवर्तन आ जाता है, वह नौ द्वारों वाले नगर में सुखपूर्वक निवास करता है। ये नौ द्वार इस प्रकार हैं—

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥

"जीव के शरीर के भीतर वास करने वाले भगवान् ब्रह्माण्ड के समस्त जीवों के नियन्ता हैं। यह शरीर नौ द्वारों (दो आँखें, दो नथुने, दो कान, एक मुँह, गुदा तथा उपस्थ) से युक्त है। बद्धावस्था में जीव अपने आपको शरीर मानता है, किन्तु जब वह अपनी पहचान अपने अन्तर के भगवान् से करता है तो वह शरीर में रहते हुए भी भगवान् की भाँति मुक्त हो जाता है।" (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ३.१८) अतः कृष्णभावनाभावित व्यक्ति शरीर के बाह्य तथा आन्तरिक दोनों कर्मों से मुक्त रहता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥१४॥

न--नहीं; **कर्तृत्वम्**--कर्तापन या स्वामित्व को; **न**--न तो; **कर्माणि**--कर्मों को; **लोकस्य**--लोगों के; **सृजति**--उत्पन्न करता है; **प्रभुः**--शरीर रूपी नगर का स्वामी; **न**--न तो; **कर्म-फल**--कर्मों के फल से; **संयोगम्**--सम्बन्ध को; **स्वभावः**--प्रकृति के गुण; **तु**--लेकिन; **प्रवर्तते**--कार्य करते हैं।

शरीर रूपी नगर का स्वामी देहधारी जीवात्मा न तो कर्म का सृजन करता है, न लोगों को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है, न ही कर्मफल की रचना करता है। यह सब तो प्रकृति के गुणों द्वारा ही किया जाता है।

तात्पर्य : जैसा कि सातवें अध्याय में बताया जाएगा जीव तो परमेश्वर की शक्तियों में से एक है, किन्तु वह भगवान् की अपरा प्रकृति है जो पदार्थ से भिन्न है। संयोगवश परा प्रकृति या जीव अनादिकाल से प्रकृति (अपरा) के सम्पर्क में रहा है। जिस नाशवान शरीर या भौतिक आवास को वह प्राप्त करता है वह अनेक कर्मों और उनके फलों का कारण है। ऐसे बद्ध वातावरण में रहते हुए मनुष्य अपने आपको (अज्ञानवश) शरीर मानकर शरीर के कर्मफलों का भोग करता है। अनन्त काल से उपार्जित यह अज्ञान ही शारीरिक सुख-दुख का कारण है। ज्योंही जीव शरीर के कार्यों से पृथक् हो जाता है त्योंही वह कर्मबन्धन से भी मुक्त हो जाता है। जब तक वह शरीर रूपी नगर में निवास करता है तब तक वह इसका स्वामी प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह न तो इसका स्वामी होता है और न इसके कर्मों तथा फलों का नियन्ता ही। वह तो इस भवसागर के बीच जीवन-संघर्ष में रत प्राणी है। सागर की लहरें उसे उछालती रहती हैं, किन्तु उन पर उसका वश नहीं चलता। उसके उद्धार का एकमात्र साधन है कि दिव्य कृष्णभावनामृत द्वारा समुद्र के बाहर आए। इसी के द्वारा समस्त अशान्ति से उसकी रक्षा हो सकती है।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥१५॥

न--कभी नहीं; **आदत्ते**--स्वीकार करता है; **कस्यचित्**--किसी का; **पापम्**--पाप; **न**--न तो; **च**--भी; **एव**--निश्चय ही; **सु-कृतम्**--पुण्य को; **विभुः**--परमेश्वर; **अज्ञानेन**--अज्ञान से; **आवृतम्**--आच्छादित; **ज्ञानम्**--ज्ञान; **तेन**--उससे; **मुह्यन्ति**--मोह-ग्रस्त होते हैं; **जन्तवः**--जीवगण।

परमेश्वर न तो किसी के पापों को ग्रहण करता है, न पुण्यों को। किन्तु सारे देहधारी जीव उस अज्ञान के कारण मोहग्रस्त रहते हैं, जो उनके वास्तविक ज्ञान को आच्छादित किये रहता है।

तात्पर्य : *विभु* का अर्थ है, परमेश्वर जो असीम ज्ञान, धन, बल, यश, सौन्दर्य तथा त्याग से युक्त है। वह सदैव आत्मतृप्त और पाप-पुण्य से अविचलित रहता है। वह किसी भी जीव के लिए विशिष्ट परिस्थिति नहीं उत्पन्न करता, अपितु जीव अज्ञान से मोहित होकर जीवन की ऐसी परिस्थिति की कामना करता है, जिसके कारण कर्म तथा फल की शृंखला आरम्भ होती है। जीव परा प्रकृति के कारण ज्ञान से पूर्ण है। तो भी वह अपनी सीमित शक्ति के कारण अज्ञान के वशीभूत हो जाता है। भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, किन्तु जीव

नहीं है। भगवान् *विभु* अर्थात् सर्वज्ञ है, किन्तु जीव *अणु* है। जीवात्मा में इच्छा करने की शक्ति है, किन्तु ऐसी इच्छा की पूर्ति सर्वशक्तिमान् भगवान् द्वारा ही की जाती है। अतः जब जीव अपनी इच्छाओं से मोहग्रस्त हो जाता है तो भगवान् उसे अपनी इच्छापूर्ति करने देते हैं, किन्तु किसी परिस्थिति विशेष में इच्छित कर्मों तथा फलों के लिए उत्तरदायी नहीं होते। अतएव मोहग्रस्त होने से देहधारी जीव अपने को परिस्थितिजन्य शरीर मान लेता है और जीवन के क्षणिक दुख तथा सुख को भोगता है। भगवान् परमात्मा रूप में जीव का चिरसंगी रहते हैं, फलतः वे प्रत्येक जीव की इच्छाओं को उसी तरह समझते हैं जिस तरह फूल के निकट रहने वाला फूल की सुगन्ध को। इच्छा जीव को बद्ध करने के लिए सूक्ष्म बन्धन है। भगवान् मनुष्य की योग्यता के अनुसार उसकी इच्छा को पूरा करते हैं—*आपन सोची होत नहिं प्रभु सोची तत्काल*। अतः व्यक्ति अपनी इच्छाओं को पूरा करने में सर्वशक्तिमान् नहीं होता। किन्तु भगवान् इच्छाओं की पूर्ति कर सकते हैं। वे निष्पक्ष होने के कारण स्वतन्त्र अणुजीवों की इच्छाओं में व्यवधान नहीं डालते। किन्तु जब कोई कृष्ण की इच्छा करता है तो भगवान् उसकी विशेष चिन्ता करते हैं और उसे इस प्रकार प्रोत्साहित करते हैं कि भगवान् को प्राप्त करने की उसकी इच्छा पूरी हो और वह सदैव सुखी रहे। अतएव वैदिक मन्त्र पुकार कर कहते हैं—*एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवासाधु कर्म कारयति यमधो निनीषते*—"भगवान् जीव को शुभ कर्मों में इसलिए प्रवृत्त करते हैं जिससे वह ऊपर उठे। भगवान् उसे अशुभ कर्मों में इसलिए प्रवृत्त करते हैं जिससे वह नरक जाए।" (*कौषीतकी उपनिषद्* ३.८)।

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वाश्वभ्रमेव च॥

"जीव अपने सुख-दुख में पूर्णतया आश्रित है। परमेश्वर की इच्छा से वह स्वर्ग या नरक जाता है, जिस तरह वायु के द्वारा प्रेरित बादल।"

अतः देहधारी जीव कृष्णभावनामृत की उपेक्षा करने की अपनी अनादि प्रवृत्ति के कारण अपने लिए मोह उत्पन्न करता है। फलस्वरूप स्वभावतः सच्चिदानन्द स्वरूप होते हुए भी वह अपने अस्तित्व की लघुता के कारण भगवान् के प्रति सेवा करने की अपनी स्वाभाविक स्थिति को भूल जाता है और इस तरह वह अविद्या द्वारा बन्दी बना लिया जाता है। अज्ञानवश जीव यह कहता है कि उसके भवबन्धन के लिए भगवान् उत्तरदायी हैं। इसकी पुष्टि *वेदान्त-सूत्र* (२.१.३४) भी करते हैं—*वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति*—"भगवान् न तो किसी के प्रति घृणा करते हैं, न किसी को चाहते हैं, यद्यपि ऊपर से ऐसा प्रतीत होता है।"

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥१६॥

ज्ञानेन—ज्ञान से; **तु**—लेकिन; **तत्**—वह; **अज्ञानम्**—अविद्या; **येषाम्**—जिनका; **नाशितम्**—नष्ट हो जाती है; **आत्मनः**—जीव का; **तेषाम्**—उनके; **आदित्य-वत्**—उदीयमान सूर्य के समान; **ज्ञानम्**—ज्ञान को; **प्रकाशयति**—प्रकट करता है; **तत् परम्**—कृष्णभावनामृत को।

किन्तु जब कोई उस ज्ञान से प्रबुद्ध होता है, जिससे अविद्या का विनाश होता है, तो उसके ज्ञान से सब कुछ उसी तरह प्रकट हो जाता है, जैसे दिन में सूर्य से सारी वस्तुएँ प्रकाशित हो जाती हैं।

तात्पर्य : जो लोग कृष्ण को भूल गये हैं वे निश्चित रूप से मोहग्रस्त होते हैं, किन्तु जो कृष्णभावनाभावित हैं वे नहीं होते। *भगवद्गीता* में कहा गया है—*सर्वं ज्ञानप्लवेन, ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि* तथा *न हि ज्ञानेन सदृशम्।* ज्ञान सदैव सम्माननीय है। और वह ज्ञान क्या है? श्रीकृष्ण के प्रति आत्मसमर्पण करने पर ही पूर्णज्ञान प्राप्त होता है, जैसा कि *गीता* में (७.१९) ही कहा गया है—*बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।* अनेकानेक जन्म बीत जाने पर ही पूर्णज्ञान प्राप्त करके मनुष्य कृष्ण की शरण में जाता है अथवा जब उसे कृष्णभावनामृत प्राप्त होता है तो उसे सब कुछ प्रकट होने लगता है, जिस प्रकार सूर्योदय होने पर सारी वस्तुएँ दिखने लगती हैं। जीव नाना प्रकार से मोहग्रस्त होता है। उदाहरणार्थ, जब वह अपने को ईश्वर मानने लगता है, तो वह अविद्या के पाश में जा गिरता है। यदि जीव ईश्वर है तो वह अविद्या से कैसे मोहग्रस्त हो सकता है? क्या ईश्वर अविद्या से मोहग्रस्त होता है? यदि ऐसा हो सकता है, तो फिर अविद्या या शैतान ईश्वर से बड़ा है। वास्तविक ज्ञान उसी से प्राप्त हो सकता है जो पूर्णतः कृष्णभावनाभावित है। अतः ऐसे ही प्रामाणिक गुरु की खोज करनी होती है और उसी से सीखना होता है कि कृष्णभावनामृत क्या है, क्योंकि कृष्णभावनामृत से सारी अविद्या उसी प्रकार दूर हो जाती है, जिस प्रकार सूर्य से अंधकार दूर होता है। भले ही किसी व्यक्ति को इसका पूरा ज्ञान हो कि वह शरीर नहीं अपितु इससे परे है, तो भी हो सकता है कि वह आत्मा तथा परमात्मा में अन्तर न कर पाए। किन्तु यदि वह पूर्ण प्रामाणिक कृष्णभावनाभावित गुरु की शरण ग्रहण करता है तो वह सब कुछ जान सकता है। ईश्वर के प्रतिनिधि से भेंट होने पर ही ईश्वर तथा ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को सही-सही जाना जा सकता है। ईश्वर का प्रतिनिधि कभी भी अपने आपको ईश्वर नहीं कहता, यद्यपि उसका सम्मान ईश्वर की ही भाँति किया जाता है, क्योंकि उसे ईश्वर का ज्ञान होता है। मनुष्य को ईश्वर और जीव के अन्तर को समझना होता है। अतएव भगवान् कृष्ण ने द्वितीय अध्याय में (२.१२) यह कहा है कि प्रत्येक जीव व्यष्टि है और भगवान् भी व्यष्टि हैं। ये सब भूतकाल में व्यष्टि थे, सम्प्रति भी व्यष्टि हैं और भविष्य में मुक्त होने पर भी व्यष्टि बने रहेंगे। रात्रि के समय अंधकार में हमें प्रत्येक वस्तु एकसी दिखती है, किन्तु दिन में सूर्य के उदय होने पर सारी वस्तुएँ अपने-अपने वास्तविक स्वरूप में दिखती हैं। आध्यात्मिक जीवन में व्यष्टि की पहचान ही वास्तविक ज्ञान है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

तत्-बुद्धयः—नित्य भगवत्परायण बुद्धि वाले; **तत्-आत्मानः**—जिनके मन सदैव भगवान् में लगे रहते हैं; **तत्-निष्ठाः**—जिनकी श्रद्धा एकमात्र परमेश्वर में है; **तत्-परायणाः**—जिन्होंने उनकी शरण ले रखी

है; **गच्छन्ति**–जाते हैं; **अपुनः-आवृत्तिम्**–मुक्ति को; **ज्ञान**–ज्ञान द्वारा; **निर्धूत**–शुद्ध किये गये; **कल्मषाः**–पाप, अविद्या।

जब मनुष्य की बुद्धि, मन, श्रद्धा तथा शरण सब कुछ भगवान् में स्थिर हो जाते हैं, तभी वह पूर्णज्ञान द्वारा समस्त कल्मष से शुद्ध होता है और मुक्ति के पथ पर अग्रसर होता है।

तात्पर्य : परम दिव्य सत्य भगवान् कृष्ण ही हैं। सारी *गीता* इसी घोषणा पर केन्द्रित है कि कृष्ण श्रीभगवान् हैं। यही समस्त वेदों का भी अभिमत है। परतत्त्व का अर्थ परम सत्य है जो भगवान् को ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के रूप में जानने वालों द्वारा समझा जाता है। भगवान् ही इस परतत्त्व की पराकाष्ठा हैं। उनसे बढ़कर कुछ नहीं है। भगवान् कहते हैं–*मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।* कृष्ण निराकार ब्रह्म का भी अनुमोदन करते है–*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*। अतः सभी प्रकार से कृष्ण परम सत्य (परतत्त्व) हैं। जिनके मन, बुद्धि, श्रद्धा तथा शरण कृष्ण में हैं अर्थात् जो पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हैं, उनके सारे कल्मष धुल जाते हैं और उन्हें ब्रह्म सम्बन्धी प्रत्येक वस्तु का पूर्णज्ञान रहता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति यह भलीभाँति समझ सकता है कि कृष्ण में द्वैत है (एकसाथ ए.... तथा भिन्नता) और ऐसे दिव्यज्ञान से युक्त होकर वह मुक्ति-पथ पर सुस्थिर प्रगति कर सकता है।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ १८॥

विद्या–शिक्षण; **विनय**–तथा विनम्रता से; **सम्पन्ने**–युक्त; **ब्राह्मणे**–ब्राह्मण में; **गवि**–गाय में; **हस्तिनि**–हाथी में; **शुनि**–कुत्ते में; **च**–तथा; **एव**–निश्चय ही; **श्वपाके**–कुत्ताभक्षी (चाण्डाल) में; **च**–क्रमशः; **पण्डिताः**–ज्ञानी; **सम-दर्शिनः**–समान दृष्टि से देखने वाले।

विनम्र साधुपुरुष अपने वास्तविक ज्ञान के कारण एक विद्वान् तथा विनीत ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल को समान दृष्टि (समभाव) से देखते हैं।

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित व्यक्ति योनि या जाति में भेद नहीं मानता। सामाजिक दृष्टि से ब्राह्मण तथा चाण्डाल भिन्न-भिन्न हो सकते हैं अथवा योनि के अनुसार कुत्ता, गाय तथा हाथी भिन्न हो सकते हैं, किन्तु विद्वान् योगी की दृष्टि में ये शरीरगत भेद अर्थहीन होते हैं। इसका कारण परमेश्वर से उनका सम्बन्ध है और परमेश्वर परमात्मा रूप में हर एक के हृदय में स्थित हैं। परम सत्य का ऐसा ज्ञान वास्तविक (यथार्थ) ज्ञान है। जहाँ तक विभिन्न जातियों या विभिन्न योनियों में शरीर का सम्बन्ध है, भगवान् सबों पर समान रूप से दयालु हैं क्योंकि वे प्रत्येक जीव को अपना मित्र मानते हैं फिर भी जीवों की समस्त परिस्थितियों में वे अपना परमात्मा स्वरूप बनाये रखते हैं। परमात्मा रूप में भगवान् चाण्डाल तथा ब्राह्मण दोनों में उपस्थित रहते हैं, यद्यपि इन दोनों के शरीर एक से नहीं होते। शरीर तो प्रकृति के गुणों के द्वारा उत्पन्न हुए हैं, किन्तु शरीर के भीतर आत्मा तथा परमात्मा समान आध्यात्मिक गुण वाले हैं। परन्तु आत्मा तथा परमात्मा की

यह समानता उन्हें मात्रात्मक दृष्टि से समान नहीं बनाती क्योंकि व्यष्टि आत्मा किसी विशेष शरीर में उपस्थित होता है, किन्तु परमात्मा प्रत्येक शरीर में है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को इसका पूर्णज्ञान होता है इसीलिए वह सचमुच ही विद्वान् तथा समदर्शी होता है। आत्मा तथा परमात्मा के लक्षण समान हैं क्योंकि दोनों चेतन, शाश्वत तथा आनन्दमय हैं। किन्तु अन्तर इतना ही है कि आत्मा शरीर की सीमा के भीतर सचेतन रहता है जबकि परमात्मा सभी शरीरों में सचेतन है। परमात्मा बिना किसी भेदभाव के सभी शरीरों में विद्यमान है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥१९॥

इह—इस जीवन में; **एव**—निश्चय ही; **तैः**—उनके द्वारा; **जितः**—जीता हुआ; **सर्गः**—जन्म तथा मृत्यु; **येषाम्**—जिनका; **साम्ये**—समता में; **स्थितम्**—स्थित; **मनः**—मन; **निर्दोषम्**—दोषरहित; **हि**—निश्चय ही; **समम्**—समान; **ब्रह्म**—ब्रह्म की तरह; **तस्मात्**—अतः; **ब्रह्मणि**—परमेश्वर में; **ते**—वे; **स्थिताः**—स्थित हैं।

जिनके मन एकत्व तथा समता में स्थित हैं उन्होंने जन्म तथा मृत्यु के बन्धनों को पहले ही जीत लिया है। वे ब्रह्म के समान निर्दोष हैं और सदा ब्रह्म में ही स्थित रहते हैं।

तात्पर्य : जैसा कि ऊपर कहा गया है मानसिक समता आत्म-साक्षात्कार का लक्षण है। जिन्होंने ऐसी अवस्था प्राप्त कर ली है, उन्हें भौतिक बंधनों पर, विशेषतया जन्म तथा मृत्यु पर, विजय प्राप्त किए हुए मानना चाहिए। जब तक मनुष्य शरीर को आत्मस्वरूप मानता है, वह बद्धजीव माना जाता है, किन्तु ज्योंही वह आत्म-साक्षात्कार द्वारा समचित्तता की अवस्था को प्राप्त कर लेता है, वह बद्धजीवन से मुक्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में, उसे इस भौतिक जगत् में जन्म नहीं लेना पड़ता, अपितु अपनी मृत्यु के बाद वह आध्यात्मिक लोक को जाता है। भगवान् निर्दोष हैं क्योंकि वे आसक्ति अथवा घृणा से रहित हैं। इसी प्रकार जब जीव आसक्ति अथवा घृणा से रहित होता है तो वह भी निर्दोष बन जाता है और वैकुण्ठ जाने का अधिकारी हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों को पहले से ही मुक्त मानना चाहिए। उनके लक्षण आगे बतलाये गये हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥२०॥

न—कभी नहीं; **प्रहृष्येत्**—हर्षित होता है; **प्रियम्**—प्रिय को; **प्राप्य**—प्राप्त करके; **न**—नहीं; **उद्विजेत्**—विचलित होता है; **प्राप्य**—प्राप्त करके; **च**—भी; **अप्रियम्**—अप्रिय को; **स्थिर-बुद्धिः**—आत्मबुद्धि, कृष्णचेतना; **असम्मूढः**—मोहरहित, संशयरहित; **ब्रह्म-वित्**—परब्रह्म को जानने वाला; **ब्रह्मणि**—ब्रह्म में; **स्थितः**—स्थित।

जो न तो प्रिय वस्तु को पाकर हर्षित होता है और न अप्रिय को पाकर विचलित होता है, जो स्थिरबुद्धि है, जो मोहरहित है और भगवद्विद्या को जानने वाला है वह

पहले से ही ब्रह्म में स्थित रहता है।

तात्पर्य : यहाँ पर स्वरूपसिद्ध व्यक्ति के लक्षण दिये गये हैं। पहला लक्षण यह है कि उसमें शरीर और आत्मतत्त्व के तादात्म्य का भ्रम नहीं रहता। वह यह भलीभाँति जानता है कि मैं यह शरीर नहीं हूँ, अपितु भगवान् का एक अंश हूँ। अतः कुछ प्राप्त होने पर न तो उसे प्रसन्नता होती है और न शरीर की कुछ हानि होने पर शोक होता है। मन की यह स्थिरता *स्थिरबुद्धि* या आत्मबुद्धि कहलाती है। अतः वह न तो स्थूल शरीर को आत्मा मानने की भूल करके मोहग्रस्त होता है और न शरीर को स्थायी मानकर आत्मा के अस्तित्व को ठुकराता है। इस ज्ञान के कारण वह परम सत्य अर्थात् ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के ज्ञान को भलीभाँति जान लेता है। इस प्रकार वह अपने स्वरूप को जानता है और परब्रह्म से हर बात में तदाकार होने का कभी यत्न नहीं करता। इसे ब्रह्म-साक्षात्कार या आत्म-साक्षात्कार कहते हैं। ऐसी स्थिरबुद्धि कृष्णभावनामृत कहलाती है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।। २१।।

बाह्य-स्पर्शेषु—बाह्य इन्द्रिय सुख में; **असक्त-आत्मा**—अनासक्त पुरुष; **विन्दति**—भोग करता है; **आत्मनि**—आत्मा में; **यत्**—जो; **सुखम्**—सुख; **सः**—वह; **ब्रह्म-योग**—ब्रह्म में एकाग्रता द्वारा; **युक्त-आत्मा**—आत्म युक्त या समाहित; **सुखम्**—सुख; **अक्षयम्**—असीम; **अश्नुते**—भोगता है।

ऐसा मुक्त पुरुष भौतिक इन्द्रियसुख की ओर आकृष्ट नहीं होता, अपितु सदैव समाधि में रहकर अपने अन्तर में आनन्द का अनुभव करता है। इस प्रकार स्वरूपसिद्ध व्यक्ति परब्रह्म में एकाग्रचित्त होने के कारण असीम सुख भोगता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत के महान भक्त श्री यामुनाचार्य ने कहा है—

यदवधि मम चेतः कृष्णपादारविन्दे
नवनवरसधामन्युद्यतं रन्तुमासीत्।
तदवधि बत नारीसंगमे स्मर्यमाने
भवति मुखविकारः सुष्ठु निष्ठीवनं च।।

"जब से मैं कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगकर उनमें नित्य नवीन आनन्द का अनुभव करने लगा हूँ तब से जब भी काम-सुख के बारे में सोचता हूँ तो इस विचार पर ही थूकता हूँ और मेरे होंठ अरुचि से सिमट जाते हैं।" ब्रह्मयोगी अथवा कृष्णभावनाभावित व्यक्ति भगवान् की प्रेमाभक्ति में इतना अधिक लीन रहता है कि इन्द्रियसुख में उसकी तनिक भी रुचि नहीं रह जाती। भौतिकता की दृष्टि में कामसुख ही सर्वोपरि आनन्द है। सारा संसार उसी के वशीभूत है और भौतिकतावादी लोग तो इस प्रोत्साहन के बिना कोई कार्य ही नहीं कर सकते। किन्तु कृष्णभावनामृत में लीन व्यक्ति कामसुख के बिना ही उत्साहपूर्वक अपना कार्य करता रहता है। यही आत्म-साक्षात्कार की कसौटी है। आत्म-साक्षात्कार तथा कामसुख कभी साथ-साथ नहीं चलते। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति जीवन्मुक्त होने के कारण किसी प्रकार के इन्द्रियसुख द्वारा आकर्षित नहीं होता।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ २२॥

ये–जो; **हि**–निश्चय ही; **संस्पर्श-जाः**–भौतिक इन्द्रियों के स्पर्श से उत्पन्न; **भोगाः**–भोग; **दुःख**–दुख; **योनयः**–स्रोत, कारण; **एव**–निश्चय ही; **ते**–वे; **आदि**–प्रारम्भ; **अन्तवन्तः**–अन्तवाले; **कौन्तेय**–हे कुन्तीपुत्र; **न**–कभी नहीं; **तेषु**–उनमें; **रमते**–आनन्द लेता है; **बुधः**–बुद्धिमान् मनुष्य।

बुद्धिमान् मनुष्य दुख के कारणों में भाग नहीं लेता जो कि भौतिक इन्द्रियों के संसर्ग से उत्पन्न होते हैं। हे कुन्तीपुत्र! ऐसे भोगों का आदि तथा अन्त होता है, अतः चतुर व्यक्ति उनमें आनन्द नहीं लेता।

तात्पर्य : भौतिक इन्द्रियसुख उन इन्द्रियों के स्पर्श से उद्‌भूत हैं जो नाशवान हैं क्योंकि शरीर स्वयं नाशवान है। मुक्तात्मा किसी नाशवान वस्तु में रुचि नहीं रखता। दिव्य आनन्द के सुखों से भलीभाँति अवगत वह भला मिथ्या सुख के लिए क्यों सहमत होगा? *पद्मपुराण* में कहा गया है–

रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥

"योगीजन परम सत्य में रमण करते हुए अनन्त दिव्यसुख प्राप्त करते हैं इसीलिए परम सत्य को भी राम कहा जाता है।"

भागवत में (५.५.१) भी कहा गया है–

नायं देहो देहभाजां नृलोके कष्टान् कामानर्हते विड्‌भुजां ये।
तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं शुद्ध्येद् यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्॥

"हे पुत्रो! इस मनुष्ययोनि में इन्द्रियसुख के लिए अधिक श्रम करना व्यर्थ है। ऐसा सुख तो सूकरों को भी प्राप्य है। इसकी अपेक्षा तुम्हें इस जीवन में तप करना चाहिए, जिससे तुम्हारा जीवन पवित्र हो जाय और तुम असीम दिव्यसुख प्राप्त कर सको।"

अतः जो यथार्थ योगी या दिव्य ज्ञानी हैं वे इन्द्रियसुखों की ओर आकृष्ट नहीं होते क्योंकि ये निरन्तर भवरोग के कारण हैं। जो भौतिकसुख के प्रति जितना ही आसक्त होता है, उसे उतने ही अधिक भौतिक दुख मिलते हैं।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ २३॥

शक्नोति–समर्थ है; **इह एव**–इसी शरीर में; **यः**–जो; **सोढुम्**–सहन करने के लिए; **प्राक्**–पूर्व; **शरीर**–शरीर; **विमोक्षणात्**–त्याग करने से; **काम**–इच्छा; **क्रोध**–तथा क्रोध से; **उद्‌भवम्**–उत्पन्न; **वेगम्**–वेग को; **सः**–वह; **युक्तः**–समाधि में; **सः**–वही; **सुखी**–सुखी; **नरः**–मनुष्य।

यदि इस शरीर को त्यागने के पूर्व कोई मनुष्य इन्द्रियों के वेगों को सहन करने तथा इच्छा एवं क्रोध के वेग को रोकने में समर्थ होता है, तो वह इस संसार में सुखी रह सकता है।

तात्पर्य : यदि कोई आत्म-साक्षात्कार के पथ पर अग्रसर होना चाहता है तो उसे भौतिक

इन्द्रियों के वेग को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। ये वेग हैं—वाणीवेग, क्रोधवेग, मनोवेग, उदरवेग, उपस्थवेग तथा जिह्वावेग। जो व्यक्ति इन विभिन्न इन्द्रियों के वेगों को तथा मन को वश में करने में समर्थ है वह *गोस्वामी* या स्वामी कहलाता है। ऐसे गोस्वामी नितान्त संयमित जीवन बिताते हैं और इन्द्रियों के वेगों का तिरस्कार करते हैं। भौतिक इच्छाएँ पूर्ण न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है और इस प्रकार मन, नेत्र तथा वक्षस्थल उत्तेजित होते हैं। अतः इस शरीर का परित्याग करने के पूर्व मनुष्य को इन्हें वश में करने का अभ्यास करना चाहिए। जो ऐसा कर सकता है वह स्वरूपसिद्ध माना जाता है और आत्म-साक्षात्कार की अवस्था में वह सुखी रहता है। योगी का कर्तव्य है कि वह इच्छा तथा क्रोध को वश में करने का भरसक प्रयत्न करे।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ २४॥

यः—जो; **अन्तः-सुखः**—अन्तर में सुखी; **अन्तः-आरामः**—अन्तर में रमण करने वाला अन्तर्मुखी; **तथा**—और; **अन्तः-ज्योतिः**—भीतर-भीतर लक्ष्य करते हुए; **एव**—निश्चय ही; **यः**—जो कोई; **सः**—वह; **योगी**—योगी; **ब्रह्म-निर्वाणम्**—परब्रह्म में मुक्ति; **ब्रह्म-भूतः**—स्वरूपसिद्ध; **अधिगच्छति**—प्राप्त करता है।

जो अन्तःकरण में सुख का अनुभव करता है, जो कर्मठ है और अन्तःकरण में ही रमण करता है तथा जिसका लक्ष्य अन्तर्मुखी होता है वह सचमुच पूर्ण योगी है। वह परब्रह्म में मुक्ति पाता है और अन्ततोगत्वा ब्रह्म को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : जब तक मनुष्य अपने अन्तःकरण में सुख का अनुभव नहीं करता तब तक भला बाह्यसुख को प्राप्त कराने वाली बाह्य क्रियाओं से वह कैसे छूट सकता है? मुक्त पुरुष वास्तविक अनुभव द्वारा सुख भोगता है। अतः वह किसी भी स्थान में मौनभाव से बैठकर अन्तःकरण में जीवन के कार्यकलापों का आनन्द लेता है। ऐसा मुक्त पुरुष कभी बाह्य भौतिक सुख की कामना नहीं करता। यह अवस्था ब्रह्मभूत कहलाती है, जिसे प्राप्त करने पर भगवद्धाम जाना निश्चित है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ २५॥

लभन्ते—प्राप्त करते हैं; **ब्रह्म-निर्वाणम्**—मुक्ति; **ऋषयः**—अन्तर से क्रियाशील रहने वाले; **क्षीण-कल्मषाः**—समस्त पापों से रहित; **छिन्न**—निवृत्त होकर; **द्वैधाः**—द्वैत से; **यत-आत्मानः**—आत्म-साक्षात्कार में निरत; **सर्वभूत**—समस्त जीवों के; **हिते**—कल्याण में; **रताः**—लगे हुए।

जो लोग संशय से उत्पन्न होने वाले द्वैत से परे हैं, जिनके मन आत्म-साक्षात्कार में रत हैं, जो समस्त जीवों के कल्याणकार्य करने में सदैव व्यस्त रहते हैं और जो समस्त पापों से रहित हैं, वे ब्रह्मनिर्वाण (मुक्ति) को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य : केवल वही व्यक्ति सभी जीवों के कल्याणकार्य में रत कहा जाएगा जो पूर्णतया

कृष्णभावनाभावित है। जब व्यक्ति को यह वास्तविक ज्ञान हो जाता है कि कृष्ण ही सभी वस्तुओं के उद्गम हैं तब वह जो भी कर्म करता है सबों के हित को ध्यान में रखकर करता है। परम भोक्ता, परम नियन्ता तथा परम सखा कृष्ण को भूल जाना मानवता के क्लेशों का कारण है। अतः समग्र मानवता के लिए कार्य करना सबसे बड़ा कल्याणकार्य है। कोई भी मनुष्य ऐसे श्रेष्ठ कार्य में तब तक नहीं लग पाता जब तक वह स्वयं मुक्त न हो। कृष्णभावनाभावित मनुष्य के हृदय में कृष्ण की सर्वोच्चता पर बिल्कुल संदेह नहीं रहता। वह इसीलिए सन्देह नहीं करता क्योंकि वह समस्त पापों से रहित होता है। ऐसा है—यह दैवी प्रेम।

जो व्यक्ति मानव समाज का भौतिक कल्याण करने में ही व्यस्त रहता है वह वास्तव में किसी की भी सहायता नहीं कर सकता। शरीर तथा मन की क्षणिक खुशी सन्तोषजनक नहीं होती। जीवन-संघर्ष में कठिनाइयों का वास्तविक कारण मनुष्य द्वारा परमेश्वर से अपने सम्बन्ध की विस्मृति में ढूँढा जा सकता है। जब मनुष्य कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध के प्रति पूर्णतया सचेष्ट रहता है तो वह वास्तव में मुक्तात्मा होता है, भले ही वह भौतिक शरीर के जाल में फँसा हो।

कामक्रोधविमुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।। २६।।

काम—इच्छाओं; **क्रोध**—तथा क्रोध से; **विमुक्तानाम्**—मुक्त पुरुषों की; **यतीनाम्**—साधु पुरुषों की; **यत-चेतसाम्**—मन के ऊपर संयम रखने वालों की; **अभितः**—निकट भविष्य में आश्वस्त; **ब्रह्म-निर्वाणम्**—ब्रह्म में मुक्ति; **वर्तते**—होती है; **विदित-आत्मनाम्**—स्वरूपसिद्धों की।

जो क्रोध तथा समस्त भौतिक इच्छाओं से रहित हैं, जो स्वरूपसिद्ध, आत्मसंयमी हैं और संसिद्धि के लिए निरन्तर प्रयास करते हैं उनकी मुक्ति निकट भविष्य में सुनिश्चित है।

तात्पर्य : मोक्ष के लिए सतत प्रयत्नशील रहने वाले साधुपुरुषों में से जो कृष्णभावनाभावित होता है वह सर्वश्रेष्ठ है। इस तथ्य की पुष्टि *भागवत* में (४.२२.३९) इस प्रकार हुई है—

यत्पादपंकजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्।।

"भक्तिपूर्वक भगवान् वासुदेव की पूजा करने का प्रयास तो करो! बड़े से बड़े साधु पुरुष भी इन्द्रियों के वेग को उतनी कुशलता से रोक पाने में समर्थ नहीं हो पाते जितना कि वे जो सकामकर्मों की तीव्र इच्छा को समूल नष्ट करके और भगवान् के चरणकमलों की सेवा करके दिव्य आनन्द में लीन रहते हैं।"

बद्धजीव में कर्म के फलों को भोगने की इच्छा इतनी बलवती होती है कि ऋषियों-मुनियों तक के लिए कठोर परिश्रम के बावजूद ऐसी इच्छाओं को वश में करना कठिन

होता है। जो भगवद्भक्त कृष्णचेतना में निरन्तर भक्ति करता है और आत्म-साक्षात्कार में सिद्ध होता है, वह शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त करता है। आत्म-साक्षात्कार का पूर्णज्ञान होने से वह निरन्तर समाधिस्थ रहता है। ऐसा ही एक उदाहरण दिया जा रहा है—

दर्शनध्यानसंस्पर्शैः मत्स्यकूर्मविहंगमाः।
स्वान्यपत्यानि पुष्णन्ति तथाहमपि पद्मज॥

"मछली, कछुवा तथा पक्षी केवल दृष्टि, चिन्तन तथा स्पर्श से अपनी सन्तानों को पालते हैं। हे पद्मज! मैं भी उसी तरह करता हूँ।"

मछली अपने बच्चों को केवल देखकर बड़ा करती है। कछुवा केवल चिन्तन द्वारा अपने बच्चों को पालता है। कछुवा अपने अण्डे स्थल में देता है और स्वयं जल में रहने के कारण निरन्तर अण्डों का चिन्तन करता रहता है। इसी प्रकार भगवद्भक्त, भगवद्धाम से दूर स्थित रहकर भी भगवान् का चिन्तन करके कृष्णभावनामृत द्वारा उनके धाम पहुँच सकता है। उसे भौतिक क्लेशों का अनुभव नहीं होता। यह जीवन-अवस्था ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् भगवान् में निरन्तर लीन रहने के कारण भौतिक कष्टों का अभाव कहलाती है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥ २७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ २८॥

स्पर्शान्—इन्द्रियविषयों यथा ध्वनि को; **कृत्वा**—करके; **बहिः**—बाहरी; **बाह्यान्**—अनावश्यक; **चक्षुः**—आँखें; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **अन्तरे**—मध्य में; **भ्रुवोः**—भौंहों के; **प्राण-अपानौ**—ऊर्ध्व तथा अधोगामी वायु; **समौ**—रुद्ध; **कृत्वा**—करके; **नास-अभ्यन्तर**—नथुनों के भीतर; **चारिणौ**—चलने वाले; **यत**—संयमित; **इन्द्रिय**—इन्द्रियाँ; **मनः**—मन; **बुद्धिः**—बुद्धि; **मुनिः**—योगी; **मोक्ष**—मोक्ष के लिए; **परायणः**—तत्पर; **विगत**—परित्याग करके; **इच्छा**—इच्छाएँ; **भय**—डर; **क्रोधः**—क्रोध; **यः**—जो; **सदा**—सदैव; **मुक्तः**—मुक्त; **एव**—निश्चय ही; **सः**—वह।

समस्त इन्द्रियविषयों को बाहर करके, दृष्टि को भौंहों के मध्य में केन्द्रित करके, प्राण तथा अपान वायु को नथुनों के भीतर रोककर और इस तरह मन, इन्द्रियों तथा बुद्धि को वश में करके जो मोक्ष को लक्ष्य बनाता है वह योगी इच्छा, भय तथा क्रोध से रहित हो जाता है। जो निरन्तर इस अवस्था में रहता है, वह अवश्य ही मुक्त है।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत में रत होने पर मनुष्य तुरन्त ही अपने आध्यात्मिक स्वरूप को जान लेता है जिसके पश्चात् भक्ति के द्वारा वह परमेश्वर को समझता है। जब मनुष्य भक्ति करता है तो वह दिव्य स्थिति को प्राप्त होता है और अपने कर्म क्षेत्र में भगवान् की उपस्थिति का अनुभव करने योग्य हो जाता है। यह विशेष स्थिति मुक्ति कहलाती है।

मुक्ति विषयक उपर्युक्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके श्रीभगवान् अर्जुन को यह शिक्षा देते हैं कि मनुष्य किस प्रकार अष्टांगयोग का अभ्यास करके इस स्थिति को प्राप्त

होता है। यह अष्टांगयोग आठ विधियों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि में विभाजित है। छठे अध्याय में योग के विषय में विस्तृत व्याख्या की गई है, पाँचवे अध्याय के अन्त में तो इसका प्रारम्भिक विवेचन ही दिया गया है। योग में प्रत्याहार विधि से शब्द, स्पर्श, रूप, स्वाद तथा गंध का निराकरण करना होता है और तब दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच लाकर अधखुली पलकों से उसे नासाग्र पर केन्द्रित करना पड़ता है। आँखों को पूरी तरह बन्द करने से कोई लाभ नहीं होता क्योंकि तब सो जाने की सम्भावना रहती है। न ही आँखों को पूरा खुला रखने से कोई लाभ है क्योंकि तब तो इन्द्रियविषयों द्वारा आकृष्ट होने का भय बना रहता है। नथुनों के भीतर श्वास की गति को रोकने के लिए प्राण तथा अपान वायुओं को सम किया जाता है। ऐसे योगाभ्यास से मनुष्य अपनी इन्द्रियों के ऊपर नियन्त्रण प्राप्त करता है, बाह्य इन्द्रियविषयों से दूर रहता है और अपनी मुक्ति की तैयारी करता है।

इस योग विधि से मनुष्य समस्त प्रकार के भय तथा क्रोध से रहित हो जाता है और परमात्मा की उपस्थिति का अनुभव करता है। दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनामृत योग के सिद्धान्तों को सम्पन्न करने की सरलतम विधि है। अगले अध्याय में इसकी विस्तार से व्याख्या होगी। किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति सदैव भक्ति में लीन रहता है जिससे उसकी इन्द्रियों के अन्यत्र प्रवृत्त होने का भय नहीं रह जाता। अष्टांगयोग की अपेक्षा इन्द्रियों को वश में करने की यह अधिक उत्तम विधि है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ २९॥

भोक्तारम्—भोगने वाला, भोक्ता; **यज्ञ**—यज्ञ; **तपसाम्**—तपस्या का; **सर्वलोक**—सम्पूर्ण लोकों तथा उनके देवताओं का; **महा-ईश्वरम्**—परमेश्वर; **सुहृदम्**—उपकारी; **सर्व**—समस्त; **भूतानाम्**—जीवों का; **ज्ञात्वा**—इस प्रकार जानकर; **माम्**—मुझ (कृष्ण) को; **शान्तिम्**—भौतिक यातना से मुक्ति; **ऋच्छति**—प्राप्त करता है।

मुझे समस्त यज्ञों तथा तपस्याओं का परम भोक्ता, समस्त लोकों तथा देवताओं का परमेश्वर एवं समस्त जीवों का उपकारी एवं हितैषी जानकर मेरे भावनामृत से पूर्ण पुरुष भौतिक दुखों से शान्ति लाभ-करता है।

तात्पर्य : माया के वशीभूत सारे बद्धजीव इस संसार में शान्ति प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहते हैं। किन्तु *भगवद्गीता* के इस अंश में वर्णित शान्ति के सूत्र को वे नहीं जानते। शान्ति का सबसे बड़ा सूत्र यही है कि भगवान् कृष्ण समस्त मानवीय कर्मों के भोक्ता हैं। मनुष्यों को चाहिए कि प्रत्येक वस्तु भगवान् की दिव्यसेवा में अर्पित कर दें क्योंकि वे ही समस्त लोकों तथा उनमें रहने वाले देवताओं के स्वामी हैं। उनसे बड़ा कोई नहीं है। वे बड़े से बड़े देवता, शिव तथा ब्रह्मा से भी महान हैं। वेदों में (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.७) भगवान् को *तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्* कहा गया है। माया के वशीभूत होकर सारे जीव सर्वत्र अपना प्रभुत्व जताना चाहते हैं, लेकिन वास्तविकता तो यह है कि सर्वत्र भगवान् की माया का प्रभुत्व है। भगवान् प्रकृति (माया) के स्वामी हैं और बद्धजीव

प्रकृति के कठोर अनुशासन के अन्तर्गत हैं। जब तक कोई इन तथ्यों को समझ नहीं लेता तब तक संसार में व्यष्टि या समष्टि रूप से शान्ति प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं है। कृष्णभावनामृत का यही अर्थ है। भगवान् कृष्ण परमेश्वर हैं तथा देवताओं सहित सारे जीव उनके आश्रित हैं। पूर्ण कृष्णभावनामृत में रहकर ही पूर्ण शान्ति प्राप्त की जा सकती है।

यह पाँचवा अध्याय कृष्णभावनामृत की, जिसे सामान्यतया कर्मयोग कहते हैं, व्यावहारिक व्याख्या है। यहाँ पर इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि कर्मयोग से मुक्ति किस तरह प्राप्त होती है। कृष्णभावनामृत में कार्य करने का अर्थ है परमेश्वर के रूप में भगवान् के पूर्णज्ञान के साथ कर्म करना। ऐसा कर्म दिव्यज्ञान से भिन्न नहीं होता। प्रत्यक्ष कृष्णभावनामृत भक्तियोग है और ज्ञानयोग वह पथ है जिससे भक्तियोग प्राप्त किया जाता है। कृष्णभावनामृत का अर्थ है—परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध का पूर्णज्ञान प्राप्त करके कर्म करना और इस चेतना की पूर्णता का अर्थ है—कृष्ण या श्रीभगवान् का पूर्णज्ञान। शुद्ध जीव भगवान् के अंश रूप में ईश्वर का शाश्वत दास है। वह माया पर प्रभुत्व जताने की इच्छा से ही माया के सम्पर्क में आता है और यही उसके कष्टों का मूल कारण है। जब तक वह पदार्थ के सम्पर्क में रहता है उसे भौतिक आवश्यकताओं के लिए कर्म करना पड़ता है। किन्तु कृष्णभावनामृत उसे पदार्थ की परिधि में स्थित होते हुए भी आध्यात्मिक जीवन में ले आता है क्योंकि भौतिक जगत् में भक्ति का अभ्यास करने पर जीव का दिव्य स्वरूप पुनः प्रकट होता है। जो मनुष्य जितना ही प्रगत है वह उतना ही पदार्थ के बन्धन से मुक्त रहता है। भगवान् किसी का पक्षपात नहीं करते। यह तो कृष्णभावनामृत के लिए व्यक्तिगत व्यावहारिक कर्तव्यपालन पर निर्भर करता है जिससे मनुष्य इन्द्रियों पर नियन्त्रण प्राप्त करके इच्छा तथा क्रोध के प्रभाव को जीत लेता है। और जो कोई उपर्युक्त कामेच्छाओं को वश में करके कृष्णभावनामृत में दृढ रहता है वह ब्रह्मनिर्वाण या दिव्य अवस्था को प्राप्त होता है। कृष्णभावनामृत में अष्टांगयोग पद्धति का स्वयमेव अभ्यास होता है क्योंकि इससे अन्तिम लक्ष्य की पूर्ति होती है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि के अभ्यास द्वारा धीरे-धीरे प्रगति हो सकती है। किन्तु भक्तियोग में तो ये प्रस्तावना के स्वरूप हैं क्योंकि केवल इसी से मनुष्य को पूर्णशान्ति प्राप्त हो सकती है। यही जीवन की परम सिद्धि है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के पंचम अध्याय "कर्मयोग— कृष्णभावनाभावित कर्म" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*

अध्याय छह

ध्यानयोग

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

श्रीभगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **अनाश्रितः**—शरण ग्रहण किये बिना; **कर्म-फलम्**—कर्मफल की; **कार्यम्**—कर्तव्य; **कर्म**—कर्म; **करोति**—करता है; **यः**—जो; **सः**—वह; **संन्यासी**—संन्यासी; **च**—भी; **योगी**—योगी; **च**—भी; **न**—नहीं; **निः**—रहित; **अग्निः**—अग्नि; **न**—न तो; **च**—भी; **अक्रियः**—क्रियाहीन।

श्रीभगवान् ने कहा—जो पुरुष अपने कर्मफल के प्रति अनासक्त है और जो अपने कर्तव्य का पालन करता है, वही संन्यासी और असली योगी है। वह नहीं, जो न तो अग्नि जलाता है और न कर्म करता है।

तात्पर्य : इस अध्याय में भगवान् बताते हैं कि अष्टांगयोग पद्धति मन तथा इन्द्रियों को वश में करने का साधन है। किन्तु इस कलियुग में सामान्य जनता के लिए इसे सम्पन्न कर पाना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि इस अध्याय में अष्टांगयोग पद्धति की संस्तुति की गई है, किन्तु भगवान् बल देते हैं कि कर्मयोग या कृष्णभावनामृत में कर्म करना इससे

श्रेष्ठ है। इस संसार में प्रत्येक मनुष्य अपने परिवार के पालनार्थ तथा अपनी सामग्री के रक्षार्थ कर्म करता है, किन्तु कोई भी मनुष्य बिना किसी स्वार्थ, किसी व्यक्तिगत तृप्ति के, चाहे वह तृप्ति आत्मकेन्द्रित हो या व्यापक, कर्म नहीं करता। पूर्णता की कसौटी है—कृष्णभावनामृत में कर्म करना, कर्म के फलों का भोग करने के उद्देश्य से नहीं। कृष्णभावनामृत में कर्म करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है, क्योंकि सभी लोग परमेश्वर के अंश हैं। शरीर के अंग पूरे शरीर के लिए कार्य करते हैं। शरीर के अंग अपनी तुष्टि के लिए नहीं, अपितु पूरे शरीर की तुष्टि के लिए कार्य करते हैं। इसी प्रकार जो जीव अपनी तुष्टि के लिए नहीं, अपितु परब्रह्म की तुष्टि के लिए कार्य करता है, वही पूर्ण संन्यासी या पूर्ण योगी है।

कभी-कभी संन्यासी सोचते हैं कि उन्हें सारे कार्यों से मुक्ति मिल गई, अतः वे अग्निहोत्र यज्ञ करना बन्द कर देते हैं, लेकिन वस्तुतः वे स्वार्थी हैं क्योंकि उनका लक्ष्य निराकार ब्रह्म से तादात्म्य स्थापित करना होता है। ऐसी इच्छा भौतिक इच्छा से तो श्रेष्ठ है, किन्तु यह स्वार्थ से रहित नहीं होती। इसी प्रकार जो योगी समस्त कर्म बन्द करके अर्धनिमीलित नेत्रों से योगाभ्यास करता है, वह भी आत्मतुष्टि की इच्छा से पूरित होता है। किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति बिना किसी स्वार्थ के पूर्णब्रह्म की तुष्टि के लिए कर्म करता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को कभी भी आत्मतुष्टि की इच्छा नहीं रहती। उसका एकमात्र लक्ष्य कृष्ण को प्रसन्न करना रहता है, अतः वह पूर्ण संन्यासी या पूर्णयोगी होता है। त्याग के सर्वोच्च प्रतीक भगवान् चैतन्य प्रार्थना करते हैं—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

"हे सर्वशक्तिमान् प्रभु! मुझे न तो धन-संग्रह की कामना है, न मैं सुन्दर स्त्रियों के साथ रमण करने का अभिलाषी हूँ, न ही मुझे अनुयायियों की कामना है। मैं तो जन्म-जन्मान्तर आपकी प्रेमाभक्ति की अहैतुकी कृपा का ही अभिलाषी हूँ।"

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥ २॥

यम्—जिसको; **संन्यासम्**—संन्यास; **इति**—इस प्रकार; **प्राहुः**—कहते हैं; **योगम्**—परब्रह्म के साथ युक्त होना; **तम्**—उसे; **विद्धि**—जानो; **पाण्डव**—हे पाण्डुपुत्र; **न**—कभी नहीं; **हि**—निश्चय ही; **असंन्यस्त**—बिना त्यागे; **सङ्कल्पः**—आत्मतृप्ति की इच्छा; **योगी**—योगी; **भवति**—होता है; **कश्चन**—कोई।

हे पाण्डुपुत्र! जिसे संन्यास कहते हैं उसे ही तुम योग अर्थात् परब्रह्म से युक्त होना जानो क्योंकि इन्द्रियतृप्ति के लिए इच्छा को त्यागे बिना कोई कभी योगी नहीं हो सकता।

तात्पर्य : वास्तविक संन्यास-योग या भक्ति का अर्थ है कि जीवात्मा अपनी स्वाभाविक स्थिति को जाने और तदनुसार कर्म करे। जीवात्मा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। वह परमेश्वर की तटस्था शक्ति है। जब वह माया के वशीभूत होता है तो वह

बद्ध हो जाता है, किन्तु जब वह कृष्णभावनाभावित रहता है अर्थात् आध्यात्मिक शक्ति में सजग रहता है तो वह अपनी सहज स्थिति में होता है। इस प्रकार जब मनुष्य पूर्णज्ञान में होता है तो वह समस्त इन्द्रियतृप्ति को त्याग देता है अर्थात् समस्त इन्द्रियतृप्ति के कार्यकलापों का परित्याग कर देता है। इसका अभ्यास योगी करते हैं जो इन्द्रियों को भौतिक आसक्ति से रोकते हैं। किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को तो ऐसी किसी भी वस्तु में अपनी इन्द्रिय लगाने का अवसर ही नहीं मिलता जो कृष्ण के निमित्त न हो। फलतः कृष्णभावनाभावित व्यक्ति संन्यासी तथा योगी साथ-साथ होता है। ज्ञान तथा इन्द्रियनिग्रह योग के ये दोनों प्रयोजन कृष्णभावनामृत द्वारा स्वतः पूरे हो जाते हैं। यदि मनुष्य स्वार्थ का त्याग नहीं कर पाता तो ज्ञान तथा योग व्यर्थ रहते हैं। जीवात्मा का मुख्य ध्येय तो समस्त प्रकार की आत्मतृप्ति को त्यागकर परमेश्वर की तुष्टि करने के लिए तैयार रहना है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति में किसी प्रकार की आत्मतृप्ति की इच्छा नहीं रहती। वह सदैव परमेश्वर की प्रसन्नता में लगा रहता है, अतः जिसे परमेश्वर के विषय में कुछ भी पता नहीं होता वही स्वार्थ पूर्ति में लगा रहता है क्योंकि कोई कभी निष्क्रिय नहीं रह सकता। कृष्णभावनामृत का अभ्यास करने से सारे कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हो जाते हैं।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३॥

आरुरुक्षोः—जिसने अभी योग प्रारम्भ किया है; **मुनेः**—मुनि की; **योगम्**—अष्टांगयोग पद्धति; **कर्म**—कर्म; **कारणम्**—साधन; **उच्यते**—कहलाता है; **योग**—अष्टांगयोग; **आरूढस्य**—प्राप्त होने वाले का; **तस्य**—उसका; **एव**—निश्चय ही; **शमः**—सम्पूर्ण भौतिक कार्यकलापों का त्याग; **कारणम्**—कारण; **उच्यते**—कहा जाता है।

अष्टांगयोग के नवसाधक के लिए कर्म साधन कहलाता है और योगसिद्ध पुरुष के लिए समस्त भौतिक कार्यकलापों का परित्याग ही साधन कहा जाता है।

तात्पर्य : परमेश्वर से युक्त होने की विधि योग कहलाती है। इसकी तुलना उस सीढ़ी से की जा सकती है जिससे सर्वोच्च आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त की जाती है। यह सीढ़ी जीव की अधम अवस्था से प्रारम्भ होकर आध्यात्मिक जीवन के पूर्ण आत्म-साक्षात्कार तक जाती है। विभिन्न चढ़ावों के अनुसार इस सीढ़ी के विभिन्न भाग भिन्न-भिन्न नामों से जाने जाते हैं। किन्तु कुल मिलाकर यह पूरी सीढ़ी योग कहलाती है और इसे तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—ज्ञानयोग, ध्यानयोग तथा भक्तियोग। सीढ़ी के प्रारम्भिक भाग को *योगारुरुक्षु* अवस्था और अन्तिम भाग को *योगारूढ* कहा जाता है।

जहाँ तक अष्टांगयोग का सम्बन्ध है, विभिन्न यम-नियमों तथा आसनों (जो प्रायः शारीरिक मुद्राएँ ही हैं) के द्वारा ध्यान में प्रविष्ट होने के लिए आरम्भिक प्रयासों को सकाम कर्म माना जाता है। ऐसे कर्मों से पूर्ण मानसिक सन्तुलन प्राप्त होता है जिससे इन्द्रियाँ वश में होती हैं। जब मनुष्य पूर्ण ध्यान में सिद्धहस्त हो जाता है तो विचलित करने वाले समस्त मानसिक कार्य बन्द हुए माने जाते हैं।

किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति प्रारम्भ से ही ध्यानावस्थित रहता है क्योंकि वह निरन्तर कृष्ण का चिन्तन करता है। इस प्रकार कृष्ण की सेवा में सतत व्यस्त रहने के कारण उसके सारे भौतिक कार्यकलाप बन्द हुए माने जाते हैं।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।। ४ ।।

यदा—जब; **हि**—निश्चय ही; **न**—नहीं; **इन्द्रिय-अर्थेषु**—इन्द्रियतृप्ति में; **न**—कभी नहीं; **कर्मसु**—सकाम कर्म में; **अनुषज्जते**—निरत रहता है; **सर्व-सङ्कल्प**—समस्त भौतिक इच्छाओं का; **संन्यासी**—त्याग करने वाला; **योग-आरूढः**—योग में स्थित; **तदा**—उस समय; **उच्यते**—कहलाता है।

जब कोई पुरुष समस्त भौतिक इच्छाओं का त्याग करके न तो इन्द्रियतृप्ति के लिए कार्य करता है और न सकामकर्मों में प्रवृत्त होता है तो वह योगारूढ कहलाता है।

तात्पर्य : जब मनुष्य भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में पूरी तरह लगा रहता है तो वह अपने आप में प्रसन्न रहता है और इस तरह वह इन्द्रियतृप्ति या सकामकर्म में प्रवृत्त नहीं होता। अन्यथा इन्द्रियतृप्ति में लगना ही पड़ता है, क्योंकि कर्म किए बिना कोई रह नहीं सकता। बिना कृष्णभावनामृत के मनुष्य सदैव स्वार्थ में तत्पर रहता है। किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही सब कुछ करता है, फलतः वह इन्द्रियतृप्ति से पूरी तरह विरक्त रहता है। जिसे ऐसी अनुभूति प्राप्त नहीं है उसे चाहिए कि भौतिक इच्छाओं से बचे रहने का वह यंत्रवत् प्रयास करे, तभी वह योग की सीढ़ी से ऊपर पहुँच सकता है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।। ५ ।।

उद्धरेत्—उद्धार करे; **आत्मना**—मन से; **आत्मानम्**—बद्धजीव को; **न**—कभी नहीं; **आत्मानम्**—बद्धजीव को; **अवसादयेत्**—पतन होने दे; **आत्मा**—मन; **एव**—निश्चय ही; **हि**—निस्सन्देह; **आत्मनः**—बद्धजीव का; **बन्धुः**—मित्र; **आत्मा**—मन; **एव**—निश्चय ही; **रिपुः**—शत्रु; **आत्मनः**—बद्धजीव का।

मनुष्य को चाहिए कि अपने मन की सहायता से अपना उद्धार करे और अपने को नीचे न गिरने दे। यह मन बद्धजीव का मित्र भी है और शत्रु भी।

तात्पर्य : प्रसंग के अनुसार आत्मा शब्द का अर्थ शरीर, मन तथा आत्मा होता है। योगपद्धति में मन तथा आत्मा का विशेष महत्त्व है। चूँकि मन ही योगपद्धति का केन्द्रबिन्दु है, अतः इस प्रसंग में आत्मा का तात्पर्य मन होता है। योगपद्धति का उद्देश्य मन को रोकना तथा इन्द्रियविषयों के प्रति आसक्ति से उसे हटाना है। यहाँ पर इस बात पर बल दिया गया है कि मन को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाय कि वह बद्धजीव को अज्ञान के दलदल से निकाल सके। इस जगत् में मनुष्य मन तथा इन्द्रियों के द्वारा प्रभावित होता है। वास्तव में शुद्ध आत्मा इस संसार में इसीलिए फँसा हुआ है क्योंकि मन मिथ्या अहंकार में लगकर प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व जताना चाहता है। अतः मन को इस प्रकार प्रशिक्षित करना चाहिए कि वह प्रकृति की तड़क-भड़क से आकृष्ट न हो और

इस तरह बद्धजीव की रक्षा की जा सके। मनुष्य को इन्द्रियविषयों में आकृष्ट होकर अपने को पतित नहीं करना चाहिए। जो जितना ही इन्द्रियविषयों के प्रति आकृष्ट होता है वह उतना ही इस संसार में फँसता जाता है। अपने को विरत करने का सर्वोत्कृष्ट साधन यही है कि मन को सदैव कृष्णभावनामृत में निरत रखा जाय। *हि* शब्द इस बात पर बल देने के लिए प्रयुक्त हुआ है अर्थात् इसे अवश्य करना चाहिए। *अमृतबिन्दु उपनिषद्* में (२) कहा भी गया है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासंगो मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥

"मन ही मनुष्य के बन्धन का और मोक्ष का भी कारण है। इन्द्रियविषयों में लीन मन बन्धन का कारण है और विषयों से विरक्त मन मोक्ष का कारण है।" अतः जो मन निरन्तर कृष्णभावनामृत में लगा रहता है, वही परम मुक्ति का कारण है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ ६॥

बन्धुः—मित्र; **आत्मा**—मन; **आत्मनः**—जीव का; **तस्य**—उसका; **येन**—जिससे; **आत्मा**—मन; **एव**—निश्चय ही; **आत्मना**—जीवात्मा के द्वारा; **जितः**—विजित; **अनात्मनः**—जो मन को वश में नहीं कर पाया उसका; **तु**—लेकिन; **शत्रुत्वे**—शत्रुता के कारण; **वर्तेत**—बना रहता है; **आत्मा एव**—वही मन; **शत्रु-वत्**—शत्रु की भाँति।

जिसने मन को जीत लिया है उसके लिए मन सर्वश्रेष्ठ मित्र है, किन्तु जो ऐसा नहीं कर पाया उसके लिए मन सबसे बड़ा शत्रु बना रहेगा।

तात्पर्य : अष्टांगयोग के अभ्यास का प्रयोजन मन को वश में करना है, जिससे मानवीय लक्ष्य प्राप्त करने में वह मित्र बना रहे। मन को वश में किये बिना योगाभ्यास करना मात्र समय को नष्ट करना है। जो अपने मन को वश में नहीं कर सकता, वह सतत अपने परम शत्रु के साथ निवास करता है और इस तरह उसका जीवन तथा लक्ष्य दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। जीव की स्वाभाविक स्थिति यह है कि वह अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करे। अतः जब तक मन अविजित शत्रु बना रहता है, तब तक मनुष्य को काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि की आज्ञाओं का पालन करना होता है। किन्तु जब मन पर विजय प्राप्त हो जाती है, तो मनुष्य इच्छानुसार उस भगवान् की आज्ञा का पालन करता है जो सबों के हृदय में परमात्मास्वरूप स्थित है। वास्तविक योगाभ्यास हृदय के भीतर परमात्मा से भेंट करना तथा उनकी आज्ञा का पालन करना है। जो व्यक्ति साक्षात् कृष्णभावनामृत स्वीकार करता है वह भगवान् की आज्ञा के प्रति स्वतः समर्पित हो जाता है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७॥

जित-आत्मनः—जिसने मन को जीत लिया है; **प्रशान्तस्य**—मन को वश में करके शान्ति प्राप्त करने

वाले का; **परम-आत्मा**—परमात्मा; **समाहितः**—पूर्णरूप से प्राप्त; **शीत**—सर्दी; **उष्ण**—गर्मी में; **सुख**—सुख; **दुःखेषु**—तथा दुख में; **तथा**—भी; **मान**—सम्मान; **अपमानयोः**—तथा अपमान में।

जिसने मन को जीत लिया है, उसने पहले ही परमात्मा को प्राप्त कर लिया है, क्योंकि उसने शान्ति प्राप्त कर ली है। ऐसे पुरुष के लिए सुख-दुख, सर्दी-गर्मी एवं मान-अपमान एक से हैं।

तात्पर्य : वस्तुतः प्रत्येक जीव उस भगवान् की आज्ञा का पालन करने के निमित्त आया है, जो जन-जन के हृदयों में परमात्मा-रूप में स्थित है। जब मन बहिरंगा माया द्वारा विपथ कर दिया जाता है तब मनुष्य भौतिक कार्यकलापों में उलझ जाता है। अतः ज्योंही मन किसी योगपद्धति द्वारा वश में आ जाता है त्योंही मनुष्य को लक्ष्य पर पहुँचा हुआ मान लिया जाना चाहिए। मनुष्य को भगवद्-आज्ञा का पालन करना चाहिए। जब मनुष्य का मन परा-प्रकृति में स्थिर हो जाता है तो जीवात्मा के समक्ष भगवद्-आज्ञा पालन करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रह जाता। मन को किसी न किसी उच्च आदेश को मानकर उसका पालन करना होता है। मन को वश में करने से स्वतः ही परमात्मा के आदेश का पालन होता है। चूँकि कृष्णभावनाभावित होते ही यह दिव्य स्थिति प्राप्त हो जाती है, अतः भगवद्भक्त संसार के द्वन्द्वों, यथा सुख-दुख, सर्दी-गर्मी आदि से अप्रभावित रहता है। यह अवस्था व्यावहारिक समाधि या परमात्मा में तल्लीनता है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ट्राश्मकाञ्चनः॥८॥

ज्ञान—अर्जित ज्ञान; **विज्ञान**—अनुभूत ज्ञान से; **तृप्त**—सन्तुष्ट; **आत्मा**—जीव; **कूट-स्थः**—आध्यात्मिक रूप से स्थित; **विजित-इन्द्रियः**—इन्द्रियों को वश में करके; **युक्तः**—आत्म-साक्षात्कार के लिए सक्षम; **इति**—इस प्रकार; **उच्यते**—कहा जाता है; **योगी**—योग का साधक; **सम**—समदर्शी; **लोष्ट्र**—कंकड़; **अश्म**—पत्थर; **काञ्चनः**—स्वर्ण।

वह व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त तथा योगी कहलाता है जो अपने अर्जित ज्ञान तथा अनुभूति से पूर्णतया सन्तुष्ट रहता है। ऐसा व्यक्ति अध्यात्म को प्राप्त तथा जितेन्द्रिय कहलाता है। वह सभी वस्तुओं को—चाहे वे कंकड़ हों, पत्थर हों या कि सोना—एकसमान देखता है।

तात्पर्य : परम सत्य की अनुभूति के बिना कोरा ज्ञान व्यर्थ होता है। *भक्तिरसामृत सिन्धु* में (१.२.२३४) कहा गया है—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥

"कोई भी व्यक्ति अपनी दूषित इन्द्रियों के द्वारा श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण तथा उनकी लीलाओं की दिव्य प्रकृति को नहीं समझ सकता। भगवान् की दिव्य सेवा से पूरित होने पर ही कोई उनके दिव्य नाम, रूप, गुण तथा लीलाओं को समझ सकता है।"

यह *भगवद्गीता* कृष्णभावनामृत का विज्ञान है। मात्र संसारी विद्वत्ता से कोई कृष्णभावनाभावित नहीं हो सकता। उसे विशुद्ध चेतना वाले व्यक्ति का सान्निध्य प्राप्त होने का सौभाग्य मिलना चाहिए। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को भगवत्कृपा से ज्ञान की अनुभूति होती है, क्योंकि वह विशुद्ध भक्ति से तुष्ट रहता है। अनुभूत ज्ञान से वह पूर्ण बनता है। आध्यात्मिक ज्ञान से मनुष्य अपने संकल्पों में दृढ़ रह सकता है, किन्तु मात्र शैक्षिक ज्ञान से वह बाह्य विरोधाभासों द्वारा मोहित और भ्रमित होता रहता है। केवल अनुभवी आत्मा ही आत्मसंयमी होता है, क्योंकि वह कृष्ण की शरण में जा चुका होता है। वह दिव्य होता है क्योंकि उसे संसारी विद्वत्ता से कुछ लेना-देना नहीं रहता। उसके लिए संसारी विद्वत्ता तथा मनोधर्म, जो अन्यों के लिए स्वर्ण के समान उत्तम होते हैं, कंकड़ों या पत्थरों से अधिक नहीं होते।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ ९॥

सु-हृत्—स्वभाव से; **मित्र**—स्नेहपूर्ण हितेच्छु; **अरि**—शत्रु; **उदासीन**—शत्रुओं में तटस्थ; **मध्य-स्थ**—शत्रुओं में पंच; **द्वेष्य**—ईर्ष्यालु; **बन्धुषु**—सम्बन्धियों या शुभेच्छुकों में; **साधुषु**—साधुओं में; **अपि**—भी; **च**—तथा; **पापेषु**—पापियों में; **सम-बुद्धिः**—समान बुद्धि वाला; **विशिष्यते**—आगे बढ़ा हुआ होता है।

जब मनुष्य निष्कपट हितैषियों, प्रिय मित्रों, तटस्थों, मध्यस्थों, ईर्ष्यालुओं, शत्रुओं तथा मित्रों, पुण्यात्माओं एवं पापियों को समान भाव से देखता है, तो वह और भी उन्नत माना जाता है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ १०॥

योगी—योगी; **युञ्जीत**—कृष्णचेतना में केन्द्रित करे; **सततम्**—निरन्तर; **आत्मानम्**—स्वयं को (मन, शरीर तथा आत्मा से); **रहसि**—एकान्त स्थान में; **स्थितः**—स्थित होकर; **एकाकी**—अकेले; **यत-चित्त-आत्मा**—मन में सदैव सचेत; **निराशीः**—किसी अन्य वस्तु से आकृष्ट हुए बिना; **अपरिग्रहः**—स्वामित्व की भावना से रहित, संग्रहभाव से मुक्त।

योगी को चाहिए कि वह सदैव अपने शरीर, मन तथा आत्मा को परमेश्वर में लगाए, एकान्त स्थान में रहे और बड़ी सावधानी के साथ अपने मन को वश में करे। उसे समस्त आकांक्षाओं तथा संग्रहभाव की इच्छाओं से मुक्त होना चाहिए।

तात्पर्य : कृष्ण की अनुभूति ब्रह्म, परमात्मा तथा श्रीभगवान् के विभिन्न रूपों में होती है। संक्षेप में, कृष्णभावनामृत का अर्थ है—भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर प्रवृत्त रहना। किन्तु जो लोग निराकार ब्रह्म अथवा अन्तर्यामी परमात्मा के प्रति आसक्त होते हैं, वे भी आंशिक रूप से कृष्णभावनाभावित हैं क्योंकि निराकार ब्रह्म कृष्ण की आध्यात्मिक किरण है और परमात्मा कृष्ण का सर्वव्यापी आंशिक विस्तार होता है। इस

प्रकार निर्विशेषवादी तथा ध्यानयोगी भी अपरोक्ष रूप से कृष्णभावनाभावित होते हैं। प्रत्यक्ष कृष्णभावनाभावित व्यक्ति सर्वोच्च योगी होता है क्योंकि ऐसा भक्त जानता है कि ब्रह्म और परमात्मा क्या हैं। उसका परम सत्य विषयक ज्ञान पूर्ण होता है, जबकि निर्विशेषवादी तथा ध्यानयोगी अपूर्ण रूप में कृष्णभावनाभावित होते हैं।

इतने पर भी इन सबों को अपने-अपने कार्यों में निरन्तर लगे रहने का आदेश दिया जाता है, जिससे वे देर-सवेर परम सिद्धि प्राप्त कर सकें। योगी का पहला कर्तव्य है कि वह कृष्ण पर अपना ध्यान सदैव एकाग्र रखे। उसे सदैव कृष्ण का चिन्तन करना चाहिए और एक क्षण के लिए भी उन्हें नहीं भुलाना चाहिए। परमेश्वर में मन की एकाग्रता ही समाधि कहलाती है। मन को एकाग्र करने के लिए सदैव एकान्तवास करना चाहिए और बाहरी उपद्रवों से बचना चाहिए। योगी को चाहिए कि वह अनुकूल परिस्थितियों को ग्रहण करे और प्रतिकूल परिस्थितियों को त्याग दे, जिससे उसकी अनुभूति पर कोई प्रभाव न पड़े। पूर्ण संकल्प कर लेने पर उसे उन व्यर्थ की वस्तुओं के पीछे नहीं पड़ना चाहिए जो परिग्रह भाव में उसे फँसा लें।

ये सारी सिद्धियाँ तथा सावधानियाँ तभी पूर्णरूपेण कार्यान्वित हो सकती हैं जब मनुष्य प्रत्यक्षतः कृष्णभावनाभावित हो क्योंकि साक्षात् कृष्णभावनामृत का अर्थ है—आत्मोत्सर्ग जिसमें संग्रहभाव (परिग्रह) के लिए लेशमात्र स्थान नहीं होता। श्रील रूपगोस्वामी कृष्णभावनामृत का लक्षण इस प्रकार देते हैं—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः।
निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते॥
प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः।
मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते॥

"जब मनुष्य किसी वस्तु के प्रति आसक्त न रहते हुए कृष्ण से सम्बन्धित हर वस्तु को स्वीकार कर लेता है, तभी वह परिग्रहत्त्व से ऊपर स्थित रहता है। दूसरी ओर, जो व्यक्ति कृष्ण से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु को बिना जाने त्याग देता है उसका वैराग्य पूर्ण नहीं होता।" (*भक्तिरसामृत सिन्धु* २.२५५-२५६)।

कृष्णभावनाभावित व्यक्ति भलीभाँति जानता रहता है कि प्रत्येक वस्तु श्रीकृष्ण की है, फलस्वरूप वह सभी प्रकार के परिग्रहभाव से मुक्त रहता है। इस प्रकार वह अपने लिए किसी वस्तु की लालसा नहीं करता। वह जानता है कि किस प्रकार कृष्णभावनामृत के अनुरूप वस्तुओं को स्वीकार किया जाता है और कृष्णभावनामृत के प्रतिकूल वस्तुओं का परित्याग कर दिया जाता है। वह सदैव भौतिक वस्तुओं से दूर रहता है, क्योंकि वह दिव्य होता है और कृष्णभावनामृत से रहित व्यक्तियों से किसी प्रकार का सरोकार न रखने के कारण सदा अकेला रहता है। अतः कृष्णभावनामृत में रहने वाला व्यक्ति पूर्णयोगी होता है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ ११॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥ १२॥

शुचौ—पवित्र; **देशे**—भूमि में; **प्रतिष्ठाप्य**—स्थापित करके; **स्थिरम्**—दृढ़; **आसनम्**—आसन; **आत्मनः**—स्वयं का; **न**—नहीं; **अति**—अत्यधिक; **उच्छ्रितम्**—ऊँचा; **न**—न तो; **अति**—अधिक; **नीचम्**—निम्न, नीचा; **चैल-अजिन**—मुलायम वस्त्र तथा मृगछाला; **कुश**—तथा कुशा का; **उत्तरम्**—आवरण; **तत्र**—उस पर; **एक-अग्रम्**—एकाग्र; **मनः**—मन; **कृत्वा**—करके; **यत-चित्त**—मन को वश में करते हुए; **इन्द्रिय**—इन्द्रियाँ; **क्रियः**—तथा क्रियाएँ; **उपविश्य**—बैठकर; **आसने**—आसन पर; **युञ्ज्यात्**—अभ्यास करे; **योगम्**—योग; **आत्म**—हृदय की; **विशुद्धये**—शुद्धि के लिए।

योगाभ्यास के लिए योगी एकान्त स्थान में जाकर भूमि पर कुशा बिछा दे और फिर उसे मृगछाला से ढके तथा ऊपर से मुलायम वस्त्र बिछा दे। आसन न तो बहुत ऊँचा हो, न बहुत नीचा। यह पवित्र स्थान में स्थित हो। योगी को चाहिए कि इस पर दृढ़तापूर्वक बैठ जाय और मन, इन्द्रियों तथा कर्मों को वश में करते हुए तथा मन को एक बिन्दु पर स्थिर करके हृदय को शुद्ध करने के लिए योगाभ्यास करे।

तात्पर्य : 'पवित्र स्थान' तीर्थस्थान का सूचक है। भारत में योगी तथा भक्त अपना घर त्याग कर प्रयाग, मथुरा, वृन्दावन, हृषीकेश तथा हरिद्वार जैसे पवित्र स्थानों में वास करते हैं और एकान्तस्थान में योगाभ्यास करते हैं, जहाँ यमुना तथा गंगा जैसी नदियाँ प्रवाहित होती हैं। किन्तु प्रायः ऐसा करना सबों के लिए, विशेषतया पाश्चात्यों के लिए, सम्भव नहीं है। बड़े-बड़े शहरों की तथाकथित योग-समितियाँ भले ही धन कमा लें, किन्तु वे योग के वास्तविक अभ्यास के लिए सर्वथा अनुपयुक्त होती हैं। जिसका मन विचलित है और जो आत्मसंयमी नहीं है, वह ध्यान का अभ्यास नहीं कर सकता। अतः *बृहन्नारदीय पुराण* में कहा गया है कि कलियुग (वर्तमान युग) में, जबकि लोग अल्पजीवी, आत्म-साक्षात्कार में मन्द तथा चिन्ताओं से व्यग्र रहते हैं, भगवत्प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ माध्यम भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

"कलह और दम्भ के इस युग में मोक्ष का एकमात्र साधन भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करना है। कोई दूसरा मार्ग नहीं है। कोई दूसरा मार्ग नहीं है। कोई दूसरा मार्ग नहीं है।"

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४॥

समम्—सीधा; **काय**—शरीर; **शिरः**—सिर; **ग्रीवम्**—तथा गर्दन को; **धारयन्**—रखते हुए;

अचलम्—अचल; **स्थिरः**—शान्त; **सम्प्रेक्ष्य**—देखकर; **नासिका**—नाक के; **अग्रम्**—अग्रभाग को; **स्वम्**—अपनी; **दिशः**—सभी दिशाओं में; **च**—भी; **अनवलोकयन्**—न देखते हुए; **प्रशान्त**—अविचलित; **आत्मा**—मन; **विगत-भीः**—भय से रहित; **ब्रह्मचारि-व्रते**—ब्रह्मचर्य व्रत में; **स्थितः**—स्थित; **मनः**—मन को; **संयम्य**—पूर्णतया दमित करके; **मत्**—मुझ (कृष्ण) में; **चित्तः**—मन को केन्द्रित करते हुए; **युक्तः**—वास्तविक योगी; **आसीत**—बैठे; **मत्**—मुझमें; **परः**—चरम लक्ष्य।

योगाभ्यास करने वाले को चाहिए कि वह अपने शरीर, गर्दन तथा सिर को सीधा रखे और नाक के अगले सिरे पर दृष्टि लगाए। इस प्रकार वह अविचलित तथा दमित मन से, भयरहित, विषयीजीवन से पूर्णतया मुक्त होकर अपने हृदय में मेरा चिन्तन करे और मुझे ही अपना चरमलक्ष्य बनाए।

तात्पर्य : जीवन का उद्देश्य कृष्ण को जानना है जो प्रत्येक जीव के हृदय में चतुर्भुज परमात्मा रूप में स्थित हैं। योगाभ्यास का प्रयोजन विष्णु के इसी अन्तर्यामी रूप की खोज करने तथा देखने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अन्तर्यामी विष्णुमूर्ति प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में निवास करने वाले कृष्ण का स्वांश रूप है। जो इस विष्णुमूर्ति की अनुभूति करने के अतिरिक्त किसी अन्य कपटयोग में लगा रहता है, वह निस्सन्देह अपने समय का अपव्यय करता है। कृष्ण ही जीवन के परम लक्ष्य हैं और प्रत्येक हृदय में स्थित विष्णुमूर्ति ही योगाभ्यास का लक्ष्य है। हृदय के भीतर इस विष्णुमूर्ति की अनुभूति प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्यव्रत अनिवार्य है, अतः मनुष्य को चाहिए कि घर छोड़ दे और किसी एकान्त स्थान में बताई गई विधि से आसीन होकर रहे। नित्यप्रति घर में या अन्यत्र मैथुन-भोग करते हुए और तथाकथित योग की कक्षा में जाने मात्र से कोई योगी नहीं हो जाता। उसे मन को संयमित करने का अभ्यास करना होता है और सभी प्रकार की इन्द्रियतृप्ति से, जिसमें मैथुन-जीवन मुख्य है, बचना होता है। महान ऋषि याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मचर्य के नियमों में बताया है—

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते॥

"सभी कालों में, सभी अवस्थाओं में तथा सभी स्थानों में मनसा वाचा कर्मणा मैथुन-भोग से पूर्णतया दूर रहने में सहायता करना ही ब्रह्मचर्यव्रत का लक्ष्य है।" मैथुन में प्रवृत्त रहकर योगाभ्यास नहीं किया जा सकता। इसीलिए बचपन से जब मैथुन का कोई ज्ञान भी नहीं होता ब्रह्मचर्य की शिक्षा दी जाती है। पाँच वर्ष की आयु में बच्चों को गुरुकुल भेजा जाता है, जहाँ गुरु उन्हें ब्रह्मचारी बनने के दृढ नियमों की शिक्षा देता है। ऐसे अभ्यास के बिना किसी भी योग में उन्नति नहीं की जा सकती, चाहे वह ध्यान हो, या कि ज्ञान या भक्ति। किन्तु जो व्यक्ति विवाहित जीवन के विधि-विधानों का पालन करता है और अपनी ही पत्नी से मैथुन-सम्बन्ध रखता है वह भी ब्रह्मचारी कहलाता है। ऐसे संयमशील गृहस्थ-ब्रह्मचारी को भक्ति सम्प्रदाय में स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु ज्ञान तथा ध्यान सम्प्रदाय वाले ऐसे गृहस्थ-ब्रह्मचारी को भी प्रवेश नहीं देते। उनके लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। भक्ति सम्प्रदाय में गृहस्थ-ब्रह्मचारी को संयमित मैथुन की अनुमति रहती है, क्योंकि भक्ति सम्प्रदाय इतना शक्तिशाली है कि भगवान् की सेवा में

लगे रहने से वह स्वतः ही मैथुन का आकर्षण त्याग देता है।

भगवद्गीता में (२.५९) कहा गया है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

जहाँ अन्यों को विषयभोग से दूर रहने के लिए बाध्य किया जाता है वहीं भगवद्भक्त भगवद्रसास्वादन के कारण इन्द्रियतृप्ति से स्वतः विरक्त हो जाता है। भक्त को छोड़कर अन्य किसी को इस अनुपम रस का ज्ञान नहीं होता।

विगत-भीः पूर्ण कृष्णभावनाभावित हुए बिना मनुष्य निर्भय नहीं हो सकता। बद्धजीव अपनी विकृत स्मृति अथवा कृष्ण के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध की विस्मृति के कारण भयभीत रहता है। *भागवत* का (११.२.३७) कथन है—*भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्याद् ईशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः*। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ही योग का पूर्ण अभ्यास कर सकता है और चूँकि योगाभ्यास का चरम लक्ष्य अन्तःकरण में भगवान् का दर्शन पाना है, अतः कृष्णभावनाभावित व्यक्ति पहले ही समस्त योगियों में श्रेष्ठ होता है। यहाँ पर वर्णित योगविधि के नियम तथाकथित लोकप्रिय योग-समितियों से भिन्न हैं।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ १५॥

युञ्जन्—अभ्यास करते हुए; **एवम्**—इस प्रकार से; **सदा**—निरन्तर; **आत्मानम्**—शरीर, मन तथा आत्मा; **योगी**—योग का साधक; **नियत-मानसः**—संयमित मन से युक्त; **शान्तिम्**—शान्ति को; **निर्वाण-परमाम्**—भौतिक अस्तित्व का अन्त; **मत्-संस्थाम्**—चिन्मयव्योम (भगवद्धाम) को; **अधिगच्छति**—प्राप्त करता है।

इस प्रकार शरीर, मन तथा कर्म में निरन्तर संयम का अभ्यास करते हुए संयमित मन वाले योगी को इस भौतिक अस्तित्व की समाप्ति पर भगवद्धाम की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य : अब योगाभ्यास के चरम लक्ष्य का स्पष्टीकरण किया जा रहा है। योगाभ्यास किसी भौतिक सुविधा की प्राप्ति के लिए नहीं किया जाता, इसका उद्देश्य तो भौतिक संसार से विरक्ति प्राप्त करना है। जो कोई इसके द्वारा स्वास्थ्य-लाभ चाहता है या भौतिक सिद्धि प्राप्त करने का इच्छुक होता है वह *भगवद्गीता* के अनुसार योगी नहीं है। न ही भौतिक अस्तित्व की समाप्ति का अर्थ शून्य में प्रवेश है क्योंकि यह कपोलकल्पना है। भगवान् की सृष्टि में कहीं भी शून्य नहीं है। उल्टे भौतिक अस्तित्व की समाप्ति से मनुष्य भगवद्धाम में प्रवेश करता है। *भगवद्गीता* में भगवद्धाम का भी स्पष्टीकरण किया गया है कि यह वह स्थान है जहाँ न सूर्य की आवश्यकता है, न चाँद या बिजली की। आध्यात्मिक राज्य के सारे लोक उसी प्रकार से स्वतः प्रकाशित हैं, जिस प्रकार सूर्य द्वारा यह भौतिक आकाश। वैसे तो भगवद्धाम सर्वत्र है, किन्तु चिन्मयव्योम तथा उसके लोकों को ही परमधाम कहा जाता है।

एक पूर्णयोगी जिसे भगवान् कृष्ण का पूर्णज्ञान है जैसा कि यहाँ पर भगवान् ने

स्वयं कहा है *(मच्चितः, मत्परः, मत्स्थानम्)* वास्तविक शान्ति प्राप्त कर सकता है और अन्ततोगत्वा कृष्णलोक या गोलोक वृन्दावन को प्राप्त होता है। *ब्रह्मसंहिता* में (५.३७) स्पष्ट उल्लेख है—*गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः*—यद्यपि भगवान् सदैव अपने धाम में निवास करते हैं, जिसे गोलोक कहते हैं, तो भी वे अपनी परा-आध्यात्मिक शक्तियों के कारण सर्वव्यापी ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा हैं। कोई भी कृष्ण तथा विष्णु रूप में उनके पूर्ण विस्तार को सही-सही जाने बिना वैकुण्ठ में या भगवान् के नित्यधाम (गोलोक वृन्दावन) में प्रवेश नहीं कर सकता। अतः कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ही पूर्णयोगी है क्योंकि उसका मन सदैव कृष्ण के कार्यकलापों में तल्लीन रहता है *(स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः)*। वेदों में (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ३.८) भी हम पाते हैं—*तमेव विदित्वाति मृत्युमेति*—केवल भगवान् कृष्ण को जानने पर जन्म तथा मृत्यु के पथ को जीता जा सकता है। दूसरे शब्दों में, योग की पूर्णता संसार से मुक्ति प्राप्त करने में है, इन्द्रजाल अथवा व्यायाम के करतबों द्वारा अबोध जनता को मूर्ख बनाने में नहीं।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥१६॥

न—कभी नहीं; **अति**—अधिक; **अश्नतः**—खाने वाले का; **तु**—लेकिन; **योगः**—भगवान् से जुड़ना; **अस्ति**—है; **न**—न तो; **च**—भी; **एकान्तम्**—बिल्कुल, नितान्त; **अनश्नतः**—भोजन न करने वाले का; **न**—न तो; **च**—भी; **अति**—अत्यधिक; **स्वप्न-शीलस्य**—सोने वाले का; **जाग्रतः**—अथवा रात भर जागते रहने वाले का; **न**—नहीं; **एव**—ही; **च**—तथा; **अर्जुन**—हे अर्जुन।

हे अर्जुन! जो अधिक खाता है या बहुत कम खाता है, जो अधिक सोता है अथवा जो पर्याप्त नहीं सोता उसके योगी बनने की कोई सम्भावना नहीं है।

तात्पर्य : यहाँ पर योगियों के लिए भोजन तथा नींद के नियमन की संस्तुति की गई है। अधिक भोजन का अर्थ है शरीर तथा आत्मा को बनाये रखने के लिए आवश्यकता से अधिक भोजन करना। मनुष्यों को मांसाहार करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रचुर मात्रा में अन्न, शाक, फल तथा दुग्ध उपलब्ध हैं। ऐसे सादे भोज्यपदार्थ *भगवद्गीता* के अनुसार सतोगुणी माने जाते हैं। मांसाहार तो तमोगुणियों के लिए है। अतः जो लोग मांसाहार करते हैं, मद्यपान करते हैं, धूम्रपान करते हैं और कृष्ण को भोग लगाये बिना भोजन करते हैं वे पापकर्मों का भोग करेंगे क्योंकि वे केवल दूषित वस्तुएँ खाते हैं। *भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।* जो व्यक्ति इन्द्रियसुख के लिए खाता है या अपने लिए भोजन बनाता है, किन्तु कृष्ण को भोजन अर्पित नहीं करता वह केवल पाप खाता है। जो पाप खाता है और नियत मात्रा से अधिक भोजन करता है वह पूर्णयोग का पालन नहीं कर सकता। सबसे उत्तम यही है कि कृष्ण को अर्पित भोजन के उच्छिष्ट भाग को ही खाया जाय। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी भी ऐसा भोजन नहीं करता, जो इससे पूर्व कृष्ण को अर्पित न किया गया हो। अतः केवल कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ही योगाभ्यास में पूर्णता प्राप्त कर सकता है। न ही ऐसा व्यक्ति कभी योग का अभ्यास

कर सकता है जो कृत्रिम उपवास की अपनी विधियाँ निकाल कर भोजन नहीं करता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति शास्त्रों द्वारा अनुमोदित उपवास करता है। न तो वह आवश्यकता से अधिक उपवास रखता है, न ही अधिक खाता है। इस प्रकार वह योगाभ्यास करने के लिए पूर्णतया योग्य है। जो आवश्यकता से अधिक खाता है वह सोते समय अनेक सपने देखेगा, अतः आवश्यकता से अधिक सोएगा। मनुष्य को प्रतिदिन छः घंटे से अधिक नहीं सोना चाहिए। जो व्यक्ति चौबीस घंटों में से छः घंटों से अधिक सोता है, वह अवश्य ही तमोगुणी है। तमोगुणी व्यक्ति आलसी होता है और अधिक सोता है। ऐसा व्यक्ति योग नहीं साध सकता।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥१७॥

युक्त—नियमित; **आहार**—भोजन; **विहारस्य**—आमोद-प्रमोद का; **युक्त**—नियमित; **चेष्टस्य**—जीवन निर्वाह के लिए कर्म करने वाले का; **कर्मसु**—कर्म करने में; **युक्त**—नियमित; **स्वप्न-अवबोधस्य**—नींद तथा जागरण का; **योगः**—योगाभ्यास; **भवति**—होता है; **दुःख-हा**—कष्टों को नष्ट करने वाला।

जो खाने, सोने, आमोद-प्रमोद तथा काम करने की आदतों में नियमित रहता है, वह योगाभ्यास द्वारा समस्त भौतिक क्लेशों को नष्ट कर सकता है।

तात्पर्य : खाने, सोने, रक्षा करने तथा मैथुन करने में—जो शरीर की आवश्यकताएँ हैं—अति करने से योगाभ्यास की प्रगति रुक जाती है। जहाँ तक खाने का प्रश्न है, इसे तो प्रसादम् या पवित्रीकृत भोजन के रूप में नियमित बनाया जा सकता है। *भगवद्गीता* (९.२६)के अनुसार भगवान् कृष्ण को शाक, फूल, फल, अन्न, दुग्ध आदि भेंट किये जाते हैं। इस प्रकार एक कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को ऐसा भोजन न करने का स्वतः प्रशिक्षण प्राप्त रहता है, जो मनुष्य के खाने योग्य नहीं होता या कि सतोगुणी नहीं होता। जहाँ तक सोने का प्रश्न है, कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कृष्णभावनामृत में कर्म करने में निरन्तर सतर्क रहता है, अतः निद्रा में वह व्यर्थ समय नहीं गँवाता। *अव्यर्थ-कालत्वम्*—कृष्णभावनाभावित व्यक्ति अपना एक मिनट का समय भी भगवान् की सेवा के बिना नहीं बिताना चाहता। अतः वह कम से कम सोता है। इसके आदर्श श्रील रूप गोस्वामी हैं, जो कृष्ण की सेवा में निरन्तर लगे रहते थे और दिनभर में दो घंटे से अधिक नहीं सोते थे, और कभी-कभी तो उतना भी नहीं सोते थे। ठाकुर हरिदास तो अपनी माला में तीन लाख नामों का जप किये बिना न तो प्रसाद ग्रहण करते थे और न सोते ही थे। जहाँ तक कार्य का प्रश्न है, कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ऐसा कोई भी कार्य नहीं करता जो कृष्ण से सम्बन्धित न हो। इस प्रकार उसका कार्य सदैव नियमित रहता है और इन्द्रियतृप्ति से अदूषित। चूँकि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के लिए इन्द्रियतृप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता, अतः उसे तनिक भी भौतिक अवकाश नहीं मिलता। चूँकि वह अपने कार्य, वचन, निद्रा, जागृति तथा अन्य सारे शारीरिक कार्यों में नियमित रहता है, अतः उसे कोई भौतिक दुख नहीं सताता।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥१८॥

यदा—जब; **विनियतम्**—विशेष रूप से अनुशासित; **चित्तम्**—मन तथा उसके कार्य; **आत्मनि**—अध्यात्म में; **एव**—निश्चय ही; **अवतिष्ठते**—स्थित हो जाता है; **निस्पृहः**—आकांक्षारहित; **सर्व**—सभी प्रकार की; **कामेभ्यः**—भौतिक इन्द्रियतृप्ति से; **युक्तः**—योग में स्थित; **इति**—इस प्रकार; **उच्यते**—कहलाता है; **तदा**—उस समय।

जब योगी योगाभ्यास द्वारा अपने मानसिक कार्यकलापों को वश में कर लेता है और अध्यात्म में स्थित हो जाता है अर्थात् समस्त भौतिक इच्छाओं से रहित हो जाता है, तब वह योग में सुस्थिर कहा जाता है।

तात्पर्य : साधारण मनुष्य की तुलना में योगी के कार्यों में यह विशेषता होती है कि वह समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त रहता है जिनमें मैथुन प्रमुख है। एक पूर्णयोगी अपने मानसिक कार्यों में इतना अनुशासित होता है कि उसे कोई भी भौतिक इच्छा विचलित नहीं कर सकती। यह सिद्ध अवस्था कृष्णभावनाभावित व्यक्तियों द्वारा स्वतः प्राप्त हो जाती है, जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में (९.४.१८-२०) कहा गया है—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥
मुकुन्दलिंगालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽगसंगमम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवंदने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः॥

"राजा अम्बरीष ने सर्वप्रथम अपने मन को भगवान् के चरणकमलों पर स्थिर कर दिया; फिर, क्रमशः अपनी वाणी को कृष्ण के गुणानुवाद में लगाया, हाथों को भगवान् के मन्दिर को स्वच्छ करने, कानों को भगवान् के कार्यकलापों को सुनने, आँखों को भगवान् के दिव्यरूप का दर्शन करने, शरीर को अन्य भक्तों के शरीरों का स्पर्श करने, घ्राणेन्द्रिय को भगवान् पर चढ़ाये गये कमलपुष्प की सुगन्ध सूँघने, जीभ को भगवान् के चरणकमलों पर चढ़ाये गये तुलसी पत्रों का स्वाद लेने, पाँवों को तीर्थयात्रा करने तथा भगवान् के मन्दिर तक जाने, सिर को भगवान् को प्रणाम करने तथा अपनी इच्छाओं को भगवान् की इच्छा पूरी करने में लगा दिया। ये सारे दिव्यकार्य शुद्ध भक्त के सर्वथा अनुरूप हैं।"

निर्विशेषवादियों के लिए यह दिव्य व्यवस्था अनिर्वचनीय हो सकती है, किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के लिए यह अत्यन्त सुगम एवं व्यावहारिक है, जैसा कि महाराज अम्बरीष की उपरिवर्णित जीवनचर्या से स्पष्ट हो जाता है। जब तक निरन्तर स्मरण द्वारा भगवान् के चरणकमलों में मन को स्थिर नहीं कर लिया जाता, तब तक ऐसे दिव्यकार्य व्यावहारिक नहीं बन पाते। अतः भगवान् की भक्ति में इन विहित कार्यों को *अर्चन्* कहते हैं जिसका अर्थ है—समस्त इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना। इन्द्रियों तथा मन को कुछ न कुछ कार्य चाहिए। कोरा निग्रह व्यावहारिक नहीं है। अतः

सामान्य लोगों के लिए—विशेषकर जो लोग संन्यास आश्रम में नहीं हैं—ऊपर वर्णित इन्द्रियों तथा मन का दिव्यकार्य ही दिव्य सफलता की सही विधि है, जिसे *भगवद्गीता* में युक्त कहा गया है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ १९॥

यथा—जिस तरह; **दीपः**—दीपक; **निवात-स्थः**—वायुरहित स्थान में; **न**—नहीं; **इङ्गते**—हिलता डुलता; **सा**—यह; **उपमा**—तुलना; **स्मृता**—मानी जाती है; **योगिनः**—योगी की; **यत-चित्तस्य**—जिसका मन वश में है; **युञ्जतः**—निरन्तर संलग्न; **योगम्**—ध्यान में; **आत्मनः**—अध्यात्म में।

जिस प्रकर वायुरहित स्थान में दीपक हिलता-डुलता नहीं, उसी तरह जिस योगी का मन वश में होता है, वह आत्मतत्त्व के ध्यान में सदैव स्थिर रहता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित व्यक्ति अपने आराध्य देव के चिन्तन में उसी प्रकार अविचलित रहता है जिस प्रकार वायुरहित स्थान में एक दीपक रहता है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ २०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ २१॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ २२॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्॥ २३॥

यत्र—जिस अवस्था में; **उपरमते**—दिव्यसुख की अनुभूति के कारण बन्द हो जाती है; **चित्तम्**—मानसिक गतिविधियाँ; **निरुद्धम्**—पदार्थ से निवृत्त; **योग-सेवया**—योग के अभ्यास द्वारा; **यत्र**—जिसमें; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **आत्मना**—विशुद्ध मन से; **आत्मानम्**—आत्मा की; **पश्यन्**—स्थिति का अनुभव करते हुए; **आत्मनि**—अपने में; **तुष्यति**—तुष्ट हो जाता है; **सुखम्**—सुख; **आत्यन्तिकम्**—परम; **यत्**—जो; **तत्**—वह; **बुद्धि**—बुद्धि से; **ग्राह्यम्**—ग्रहणीय; **अतीन्द्रियम्**—दिव्य; **वेत्ति**—जानता है; **यत्र**—जिसमें; **न**—कभी नहीं; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **अयम्**—यह; **स्थितः**—स्थित; **चलति**—हटता है; **तत्त्वतः**—सत्य से; **यम्**—जिसको; **लब्ध्वा**—प्राप्त करके; **च**—तथा; **अपरम्**—अन्य कोई; **लाभम्**—लाभ; **मन्यते**—मानता है; **न**—कभी नहीं; **अधिकम्**—अधिक; **ततः**—उससे; **यस्मिन्**—जिसमें; **स्थितः**—स्थित होकर; **न**—कभी नहीं; **दुःखेन**—दुखों से; **गुरुणा अपि**—अत्यन्त कठिन होने पर भी; **विचाल्यते**—चलायमान होता है; **तम्**—उसको; **विद्यात्**—जानो; **दुःख-संयोग**—भौतिक संसर्ग से उत्पन्न दुख; **वियोगम्**—उन्मूलन को; **योग-संज्ञितम्**—योग में समाधि कहलाने वाला।

सिद्धि की अवस्था में, जिसे समाधि कहते हैं, मनुष्य का मन योगाभ्यास के द्वारा भौतिक मानसिक क्रियाओं से पूर्णतया संयमित हो जाता है। इस सिद्धि की विशेषता यह है कि मनुष्य शुद्ध मन से अपने को देख सकता है और अपने आपमें आनन्द

उठा सकता है। उस आनन्दमयी स्थिति में वह दिव्य इन्द्रियों द्वारा असीम दिव्यसुख में स्थित रहता है। इस प्रकार स्थापित मनुष्य कभी सत्य से विपथ नहीं होता और इस सुख की प्राप्ति हो जाने पर वह इससे बड़ा कोई दूसरा लाभ नहीं मानता। ऐसी स्थिति को पाकर मनुष्य बड़ी से बड़ी कठिनाई में भी विचलित नहीं होता। यह निस्सन्देह भौतिक संसर्ग से उत्पन्न होने वाले समस्त दुखों से वास्तविक मुक्ति है।

तात्पर्य : योगाभ्यास से मनुष्य भौतिक धारणाओं से क्रमशः विरक्त होता जाता है। यह योग का प्रमुख लक्षण है। इसके बाद वह समाधि में स्थित हो जाता है जिसका अर्थ यह होता है कि दिव्य मन तथा बुद्धि के द्वारा योगी अपने आपको परमात्मा समझने का भ्रम न करके परमात्मा की अनुभूति करता है। योगाभ्यास बहुत कुछ पतञ्जलि की पद्धति पर आधारित है। कुछ अप्रामाणिक भाष्यकार जीवात्मा तथा परमात्मा में अभेद स्थापित करने का प्रयास करते हैं और अद्वैतवादी इसे ही मुक्ति मानते हैं, किन्तु वे पतञ्जलि की योगपद्धति के वास्तविक प्रयोजन को नहीं जानते। पतञ्जलि पद्धति में दिव्य आनन्द को स्वीकार किया गया है, किन्तु अद्वैतवादी इस दिव्य आनन्द को स्वीकार नहीं करते क्योंकि उन्हें भ्रम है कि इससे कहीं उनके अद्वैतवाद में बाधा न उपस्थित हो जाय। अद्वैतवादी ज्ञान तथा ज्ञाता के द्वैत को नहीं मानते, किन्तु इस श्लोक में दिव्य इन्द्रियों द्वारा अनुभूत दिव्य आनन्द को स्वीकार किया गया है। इसकी पुष्टि योगपद्धति के विख्यात व्याख्याता पतञ्जलि मुनि ने भी की है। योगसूत्र में (३.३४) महर्षि कहते हैं—*पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।*

यह *चितिशक्ति* या अन्तरंगा शक्ति दिव्य है। *पुरुषार्थ* का तात्पर्य धर्म, अर्थ, काम तथा अन्त में परब्रह्म से तादात्म्य या मोक्ष है। अद्वैतवादी परब्रह्म से इस तादात्म्य को *कैवल्यम्* कहते हैं। किन्तु पतञ्जलि के अनुसार *कैवल्यम्* वह अन्तरंगा या दिव्य शक्ति है जिससे जीवात्मा अपनी स्वाभाविक स्थिति से अवगत होता है। भगवान् चैतन्य के शब्दों में यह अवस्था *चेतोदर्पणमार्जनम्* अर्थात् मन रूपी मलिन दर्पण का मार्जन (शुद्धि) है। यह मार्जन वास्तव में मुक्ति या *भवमहादावाग्निनिर्वापणम्* है। प्रारम्भिक निर्वाण सिद्धान्त भी इस नियम के समान है। *भागवत* में (२.१०.६) इसे *स्वरूपेण व्यवस्थितिः* कहा गया है। *भगवद्गीता* के इस श्लोक में भी इसी की पुष्टि हुई है।

निर्वाण के बाद आध्यात्मिक कार्यकलापों की या भगवद्भक्ति की अभिव्यक्ति होती है जिसे कृष्णभावनामृत कहते हैं। *भागवत* के शब्दों में—*स्वरूपेण व्यवस्थितिः*—जीवात्मा का वास्तविक जीवन यही है। भौतिक दूषण से आध्यात्मिक जीवन के कल्मष युक्त होने की अवस्था माया है। इस भौतिक दूषण से मुक्ति का अभिप्राय जीवात्मा की मूल दिव्य स्थिति का विनाश नहीं है। पतञ्जलि भी इसकी पुष्टि इन शब्दों से करते हैं—*कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति*—यह *चितिशक्ति* या दिव्य आनन्द ही वास्तविक जीवन है। इसका अनुमोदन *वेदान्तसूत्र* में (१.१.१२) इस प्रकार हुआ है—*आनन्दमयोऽभ्यासात्।* यह चितिशक्ति ही योग का परमलक्ष्य है और भक्तियोग द्वारा इसे सरलता से प्राप्त किया जाता है। भक्तियोग का विस्तृत विवरण सातवें अध्याय में किया जायेगा।

इस अध्याय में वर्णित योगपद्धति के अनुसार समाधियाँ दो प्रकार की होती हैं—

सम्प्रज्ञात तथा *असम्प्रज्ञात समाधियाँ*। जब मनुष्य विभिन्न दार्शनिक शोधों के द्वारा दिव्य स्थिति को प्राप्त होता है तो यह कहा जाता है कि उसे सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त हुई है। असम्प्रज्ञात समाधि में संसारी आनन्द से कोई सम्बन्ध नहीं रहता क्योंकि इसमें मनुष्य इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले सभी प्रकार के सुखों से परे हो जाता है। एक बार इस दिव्य स्थिति को प्राप्त कर लेने पर योगी कभी उससे डिगता नहीं। जब तक योगी इस स्थिति को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक वह असफल रहता है। आजकल के तथाकथित योगाभ्यास में विभिन्न इन्द्रियसुख सम्मिलित हैं, जो योग के सर्वथा विपरीत है। योगी होकर यदि कोई मैथुन तथा मादकद्रव्य सेवन में अनुरक्त होता है तो यह उपहासजनक है। यहाँ तक कि जो योगी योग की सिद्धियों के प्रति आकृष्ट रहते हैं वे भी योग में आरूढ नहीं कहे जा सकते। यदि योगीजन योग की आनुषंगिक वस्तुओं के प्रति आकृष्ट हैं तो उन्हें सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुआ नहीं कहा जा सकता, जैसा कि इस श्लोक में कहा गया है। अतः जो व्यक्ति आसनों के प्रदर्शन या सिद्धियों के चक्कर में रहते हैं उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि इस प्रकार से योग का मुख्य उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है।

इस युग में योग की सर्वोत्तम पद्धति कृष्णभावनामृत है जो निराशा उत्पन्न करने वाली नहीं है। एक कृष्णभावनाभावित व्यक्ति अपने धर्म में इतना सुखी रहता है कि उसे किसी अन्य सुख की आकांक्षा नहीं रह जाती। इस दम्भ-प्रधान युग में हठयोग, ध्यानयोग तथा ज्ञानयोग का अभ्यास करते हुए अनेक अवरोध आ सकते हैं, किन्तु कर्मयोग या भक्तियोग के पालन में ऐसी समस्या सामने नहीं आती।

जब तक यह शरीर रहता है तब तक शरीर की आवश्यकताओं—आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन—को पूरा करना होता है। किन्तु जो व्यक्ति शुद्ध भक्तियोग में अथवा कृष्णभावनामृत में स्थित होता है वह शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति करते समय इन्द्रियों को उत्तेजित नहीं करता। प्रत्युत वह घाटे के सौदे का सर्वोत्तम उपयोग करके, जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं को स्वीकार करता है और कृष्णभावनामृत में दिव्यसुख भोगता है। वह दुर्घटनाओं, रोगों, अभावों और यहाँ तक कि अपने प्रियजनों की मृत्यु जैसी आपात्कालीन घटनाओं के प्रति भी निरपेक्ष रहता है, किन्तु कृष्णभावनामृत या भक्तियोग सम्बन्धी अपने कर्मों को पूरा करने में वह सदैव सचेष्ट रहता है। दुर्घटनाएँ उसे कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं कर पातीं। जैसा कि *भगवद्गीता* में (२.१४) कहा गया है—*आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत*। वह इन प्रासंगिक घटनाओं को सहता है क्योंकि वह यह भलीभाँति जानता है कि ये घटनाएँ ऐसे ही आती-जाती रहती हैं और इनसे उसके कर्तव्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार वह योगाभ्यास में परम सिद्धि प्राप्त करता है।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

सः—उस; **निश्चयेन**—दृढ विश्वास के साथ; **योक्तव्यः**—अवश्य अभ्यास करे; **योगः**—योगपद्धति; **अनिर्विण्ण-चेतसा**—विचलित हुए बिना; **सङ्कल्प**—मनोधर्म से; **प्रभवान्**—उत्पन्न; **कामान्**—भौतिक इच्छाओं को; **त्यक्त्वा**—त्यागकर; **सर्वान्**—समस्त; **अशेषतः**—पूर्णतया; **मनसा**—मन से; **एव**—निश्चय ही; **इन्द्रिय-ग्रामम्**—इन्द्रियों के समूह को; **विनियम्य**—वश में करके; **समन्ततः**—सभी ओर से।

मनुष्य को चाहिए कि संकल्प तथा श्रद्धा के साथ योगाभ्यास में लगे और पथ से विचलित न हो। उसे चाहिए कि मनोधर्म से उत्पन्न समस्त इच्छाओं को निरपवाद रूप से त्याग दे और इस प्रकार मन के द्वारा सभी ओर से इन्द्रियों को वश में करे।

तात्पर्य : योगाभ्यास करने वाले को दृढसंकल्प होना चाहिए और उसे चाहिए कि बिना विचलित हुए धैर्यपूर्वक अभ्यास करे। अन्त में उसकी सफलता निश्चित है—उसे यह सोच कर बड़े ही धैर्य से इस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए और यदि सफलता मिलने में विलम्ब हो रहा हो तो निरुत्साहित नहीं होना चाहिए। ऐसे दृढ अभ्यासी की सफलता सुनिश्चित है। भक्तियोग के सम्बन्ध में रूप गोस्वामी का कथन है—

उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात् तत्तत्कर्म प्रवर्तनात्।
संगत्यागात्सतो वृत्तेः षड्भिर्भक्तिः प्रसिद्ध्यति॥

"मनुष्य पूर्ण हार्दिक उत्साह, धैर्य तथा संकल्प के साथ भक्तियोग का पूर्णरूपेण पालन भक्त के साथ रहकर निर्धारित कर्मों के करने तथा सत्कार्यों में पूर्णतया लगे रहने से कर सकता है।" (*उपदेशामृत*—३)

जहाँ तक संकल्प की बात है, मनुष्य को चाहिए कि उस गौरैया का आदर्श ग्रहण करे जिसके सारे अंडे समुद्र की लहरों में मग्न हो गये थे। कहते हैं कि एक गौरैया ने समुद्र तट पर अंडे दिये, किन्तु विशाल समुद्र उन्हें अपनी लहरों में समेट ले गया। इस पर गौरैया अत्यन्त क्षुब्ध हुई और उसने समुद्र से अंडे लौटा देने के लिए कहा। किन्तु समुद्र ने उसकी प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया। अतः उसने समुद्र को सुखा डालने की ठान ली। वह अपनी नन्हीं सी चोंच से पानी उलीचने लगी। सभी उसके इस असम्भव संकल्प का उपहास करने लगे। उसके इस कार्य की सर्वत्र चर्चा चलने लगी तो अन्त में भगवान् विष्णु के विराट वाहन पक्षिराज गरुड़ ने यह बात सुनी। उन्हें अपनी इस नन्हीं पक्षी बहिन पर दया आई और वे गौरैया से मिलने आये। गरुड़ उस नन्हीं गौरैया के निश्चय से बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसकी सहायता करने का वचन दिया। गरुड़ ने तुरन्त समुद्र से कहा कि वह उसके अंडे लौटा दे, नहीं तो उसे स्वयं आगे आना पड़ेगा। इससे समुद्र भयभीत हुआ और उसने अंडे लौटा दिये। वह गौरैया गरुड़ की कृपा से सुखी हो गई।

इसी प्रकार योग, विशेषतया कृष्णभावनामृत में भक्तियोग, अत्यन्त दुष्कर प्रतीत हो सकता है, किन्तु जो कोई संकल्प के साथ नियमों का पालन करता है, भगवान् निश्चित रूप से उसकी सहायता करते हैं, क्योंकि जो अपनी सहायता आप करते हैं भगवान् उनकी सहायता करते हैं।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ २५॥

शनैः—धीरे-धीरे; **शनैः**—एकएक करके, क्रम से; **उपरमेत्**—निवृत्त रहे; **बुद्ध्या**—बुद्धि से; **धृति-गृहीतया**—विश्वासपूर्वक; **आत्म-संस्थम्**—समाधि में स्थित; **मनः**—मन; **कृत्वा**—करके; **न**—नहीं; **किञ्चित्**—अन्य कुछ; **अपि**—भी; **चिन्तयेत्**—सोचे।

धीरे-धीरे, क्रमशः पूर्ण विश्वासपूर्वक बुद्धि के द्वारा समाधि में स्थित होना चाहिए और इस प्रकार मन को आत्मा में ही स्थित करना चाहिए तथा अन्य कुछ भी नहीं सोचना चाहिए।

तात्पर्य : समुचित विश्वास तथा बुद्धि के द्वारा मनुष्य को धीरे-धीरे सारे इन्द्रियकर्म करने बन्द कर देना चाहिए। यह प्रत्याहार कहलाता है। मन को विश्वास, ध्यान तथा इन्द्रिय-निवृत्ति द्वारा वश में करते हुए समाधि में स्थिर करना चाहिए। उस समय देहात्मबुद्धि में अनुरक्त होने की कोई सम्भावना नहीं रह जाती। दूसरे शब्दों में, जब तक इस शरीर का अस्तित्व है तब तक मनुष्य पदार्थ में लगा रहता है, किन्तु उसे इन्द्रियतृप्ति के विषय में नहीं सोचना चाहिए। उसे परमात्मा के आनन्द के अतिरिक्त किसी अन्य आनन्द का चिन्तन नहीं करना चाहिए। कृष्णभावनामृत का अभ्यास करने से यह अवस्था सहज ही प्राप्त की जा सकती है।

यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६॥

यतः यतः—जहाँ-जहाँ भी; **निश्चलति**—विचलित होता है; **मनः**—मन; **चञ्चलम्**—चलायमान; **अस्थिरम्**—अस्थिर; **ततः ततः**—वहाँ-वहाँ से; **नियम्य**—वश में करके; **एतत्**—इस; **आत्मनि**—अपने; **एव**—निश्चय ही; **वशम्**—वश में; **नयेत्**—ले आए।

मन अपनी चंचलता तथा अस्थिरता के कारण जहाँ कहीं भी विचरण करता हो, मनुष्य को चाहिए कि उसे वहाँ से खींचे और अपने वश में लाए।

तात्पर्य : मन स्वभाव से चंचल और अस्थिर है। किन्तु स्वरूपसिद्ध योगी को मन को वश में लाना होता है, उस पर मन का अधिकार नहीं होना चाहिए। जो मन को (तथा इन्द्रियों को भी) वश में रखता है, वह *गोस्वामी* या स्वामी कहलाता है और जो मन के वशीभूत होता है वह *गोदास* अर्थात् इन्द्रियों का सेवक कहलाता है। गोस्वामी इन्द्रियसुख के मानक से भिज्ञ होता है। दिव्य इन्द्रियसुख वह है जिसमें इन्द्रियाँ हृषीकेश अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी भगवान् कृष्ण की सेवा में लगी रहती हैं। शुद्ध इन्द्रियों के द्वारा कृष्ण की सेवा ही कृष्णचेतना या कृष्णभावनामृत कहलाती है। इन्द्रियों को पूर्णवश में लाने की यही विधि है। इससे भी बढ़कर बात यह है कि यह योगाभ्यास की परम सिद्धि भी है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ २७॥

प्रशान्त—कृष्ण के चरणकमलों में स्थित, शान्त; **मनसम्**—जिसका मन; **हि**—निश्चय ही; **एनम्**—यह; **योगिनम्**—योगी; **सुखम्**—सुख; **उत्तमम्**—सर्वोच्च; **उपैति**—प्राप्त करता है; **शान्त-रजसम्**—जिसकी कामेच्छा शान्त हो चुकी है; **ब्रह्म-भूतम्**—परमात्मा के साथ अपनी पहचान द्वारा मुक्ति; **अकल्मषम्**—समस्त पूर्व पापकर्मों से मुक्त।

जिस योगी का मन मुझ में स्थिर रहता है, वह निश्चय ही दिव्यसुख की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करता है। वह रजोगुण से परे हो जाता है, वह परमात्मा के साथ अपनी गुणात्मक एकता को समझता है और इस प्रकार अपने समस्त विगत कर्मों के फल से निवृत्त हो जाता है।

तात्पर्य : ब्रह्मभूत वह अवस्था है जिसमें भौतिक कल्मष से मुक्त होकर भगवान् की दिव्यसेवा में स्थित हुआ जाता है। *मद्भक्तिं लभते पराम्* (*भगवद्गीता* १८.५४)। जब तक मनुष्य का मन भगवान् के चरणकमलों में स्थिर नहीं हो जाता तब तक कोई ब्रह्मरूप में नहीं रह सकता। *स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः*। भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर प्रवृत्त रहना या कृष्णभावनामृत में रहना वस्तुतः रजोगुण तथा भौतिक कल्मष से मुक्त होना है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ २८॥

युञ्जन्—योगाभ्यास में प्रवृत्त होना; **एवम्**—इस प्रकार; **सदा**—सदैव; **आत्मानम्**—स्व, आत्मा को; **योगी**—योगी जो परमात्मा के सम्पर्क में रहता है; **विगत**—मुक्त; **कल्मषः**—सारे भौतिक दूषण से; **सुखेन**—दिव्यसुख से; **ब्रह्म-संस्पर्शम्**—ब्रह्म के सान्निध्य में रहकर; **अत्यन्तम्**—सर्वोच्च; **सुखम्**—सुख को; **अश्नुते**—प्राप्त करता है।

इस प्रकार योगाभ्यास में निरन्तर लगा रहकर आत्मसंयमी योगी समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है और भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में परमसुख प्राप्त करता है।

तात्पर्य : आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है—भगवान् के सम्बन्ध में अपनी स्वाभाविक स्थिति को जानना। जीव (आत्मा) भगवान् का अंश है और उसकी स्थिति भगवान् की दिव्यसेवा करते रहना है। ब्रह्म के साथ यह दिव्य सान्निध्य ही ब्रह्म-संस्पर्श कहलाता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९॥

सर्व-भूत-स्थम्—सभी जीवों में स्थित; **आत्मानम्**—परमात्मा को; **सर्व**—सभी; **भूतानि**—जीवों को; **च**—भी; **आत्मनि**—आत्मा में; **ईक्षते**—देखता है; **योग-युक्त-आत्मा**—कृष्णचेतना में लगा व्यक्ति; **सर्वत्र**—सभी जगह; **सम-दर्शनः**—समभाव से देखने वाला।

वास्तविक योगी समस्त जीवों में मुझको तथा मुझमें समस्त जीवों को देखता है। निस्सन्देह स्वरूपसिद्ध व्यक्ति मुझ परमेश्वर को सर्वत्र देखता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित योगी पूर्ण द्रष्टा होता है क्योंकि वह परब्रह्म कृष्ण को हर प्राणी के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित देखता है। *ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।* अपने परमात्मा रूप में भगवान् एक कुत्ते तथा एक ब्राह्मण दोनों के हृदय में स्थित होते हैं। पूर्णयोगी जानता है कि भगवान् नित्यरूप में दिव्य हैं और कुत्ते या ब्राह्मण में स्थित होने से भी भौतिक रूप से प्रभावित नहीं होते। यही भगवान् की परम निरपेक्षता है। यद्यपि जीवात्मा भी एक-एक हृदय में विद्यमान है, किन्तु वह एकसाथ समस्त हृदयों में (सर्वव्यापी) नहीं है। आत्मा तथा परमात्मा का यही अन्तर है। जो वास्तविक रूप से योगाभ्यास करने वाला नहीं है, वह इसे स्पष्ट रूप में नहीं देखता। एक कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कृष्ण को आस्तिक तथा नास्तिक दोनों में देख सकता है। *स्मृति* में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—*आततत्वाच्च मातृत्वाच्च आत्मा हि परमो हरिः।* भगवान् सभी प्राणियों का स्रोत होने के कारण माता और पालनकर्ता के समान हैं। जिस प्रकार माता अपने समस्त पुत्रों के प्रति समभाव रखती है, उसी प्रकार परम पिता (या माता) भी रखता है। फलस्वरूप परमात्मा प्रत्येक जीव में निवास करता है।

बाह्य रूप से भी प्रत्येक जीव भगवान् की शक्ति (भगवद्शक्ति) में स्थित है। जैसा कि सातवें अध्याय में बताया जाएगा, भगवान् की दो मुख्य शक्तियाँ हैं—परा तथा अपरा। जीव पराशक्ति का अंश होते हुए भी अपराशक्ति से बद्ध है। जीव सदा ही भगवान् की शक्ति में स्थित है। प्रत्येक जीव किसी न किसी प्रकार भगवान् में ही स्थित रहता है। योगी समदर्शी है क्योंकि वह देखता है कि सारे जीव अपने-अपने कर्मफल के अनुसार विभिन्न स्थितियों में रहकर भगवान् के दास होते हैं। अपराशक्ति में जीव भौतिक इन्द्रियों का दास रहता है जबकि पराशक्ति में वह साक्षात् परमेश्वर का दास रहता है। इस प्रकार प्रत्येक अवस्था में जीव ईश्वर का दास है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति में यह समदृष्टि पूर्ण होती है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ३०॥

यः—जो; **माम्**—मुझको; **पश्यति**—देखता है; **सर्वत्र**—सभी जगह; **सर्वम्**—प्रत्येक वस्तु को; **च**—तथा; **मयि**—मुझमें; **पश्यति**—देखता है; **तस्य**—उसके लिए; **अहम्**—मैं; **न**—नहीं; **प्रणश्यामि**—अदृश्य होता हूँ; **सः**—वह; **च**—भी; **मे**;—मेरे लिए; न—नहीं; **प्रणश्यति**—अदृश्य होता है।

जो मुझे सर्वत्र देखता है और सब कुछ मुझमें देखता है उसके लिए न तो मैं कभी अदृश्य होता हूँ और न वह मेरे लिए अदृश्य होता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित व्यक्ति भगवान् कृष्ण को सर्वत्र देखता है और सारी वस्तुओं को कृष्ण में देखता है। ऐसा व्यक्ति भले ही प्रकृति की पृथक्-पृथक् अभिव्यक्तियों को देखता प्रतीत हो, किन्तु वह प्रत्येक दशा में इस कृष्णभावनामृत से अवगत रहता है कि प्रत्येक वस्तु कृष्ण की ही शक्ति की अभिव्यक्ति है। कृष्णभावनामृत का मूल सिद्धान्त ही

यह है कि कृष्ण के बिना कोई अस्तित्व नहीं है और कृष्ण ही सर्वेश्वर हैं। कृष्णभावनामृत कृष्ण-प्रेम का विकास है—ऐसी स्थिति जो भौतिक मोक्ष से भी परे है। आत्मसाक्षात्कार के उपर कृष्णभावनामृत की इस अवस्था में भक्त कृष्ण से इस अर्थ में एकरूप हो जाता है कि उसके लिए कृष्ण ही सब कुछ हो जाते हैं और भक्त प्रेममय कृष्ण से पूरित हो उठता है। तब भगवान् तथा भक्त के बीच अन्तरंग सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। उस अवस्था में जीव को विनष्ट नहीं किया जा सकता और न भगवान् भक्त की दृष्टि से ओझल होते हैं। कृष्ण में तादात्म्य होना आध्यात्मिक लय (आत्मविनाश) है। भक्त कभी भी ऐसी विपदा नहीं उठाता। *ब्रह्मसंहिता* (५.३८) में कहा गया है—

प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्तिविलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जिनका दर्शन भक्तगण प्रेमरूपी अंजन लगे नेत्रों से करते हैं। वे भक्त के हृदय में स्थित श्यामसुन्दर रूप में देखे जाते हैं।"

इस अवस्था में न तो भगवान् कृष्ण अपने भक्त की दृष्टि से ओझल होते हैं और न भक्त ही उनकी दृष्टि से ओझल हो पाते हैं। यही बात योगी के लिए भी सत्य है क्योंकि वह अपने हृदय के भीतर परमात्मा रूप में भगवान् का दर्शन करता रहता है। ऐसा योगी शुद्ध भक्त बन जाता है और अपने अन्दर भगवान् को देखे बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ ३१॥

सर्व-भूत-स्थितम्--प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित; **यः**--जो; **माम्**—मुझको; **भजति**—भक्तिपूर्वक सेवा करता है; **एकत्वम्**—तादात्म्य में; **आस्थितः**—स्थित; **सर्वथा**—सभी प्रकार से; **वर्तमानः**—उपस्थित होकर; **अपि**—भी; **सः**—वह; **योगी**—योगी; **मयि**—मुझमें; **वर्तते**—रहता है।

जो योगी मुझे तथा परमात्मा को अभिन्न जानते हुए परमात्मा की भक्तिपूर्वक सेवा करता है, वह हर प्रकार से मुझमें सदैव स्थित रहता है।

तात्पर्य : जो योगी परमात्मा का ध्यान करता है, वह अपने अन्तःकरण में चतुर्भुज विष्णु का दर्शन कृष्ण के पूर्णरूप में शंख, चक्र, गदा तथा कमलपुष्प धारण किये करता है। योगी को यह जानना चाहिए कि विष्णु कृष्ण से भिन्न नहीं हैं। परमात्मा रूप में कृष्ण जन-जन के हृदय में स्थित हैं। यही नहीं, असंख्य जीवों के हृदयों में स्थित असंख्य परमात्माओं में कोई अन्तर नहीं है। न ही कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर व्यस्त व्यक्ति तथा परमात्मा के ध्यान में निरत एक पूर्णयोगी के बीच कोई अन्तर है। कृष्णभावनामृत में योगी सदैव कृष्ण में ही स्थित रहता है भले ही भौतिक जगत् में वह विभिन्न कार्यों में व्यस्त क्यों न हो। इसकी पुष्टि श्रील रूप गोस्वामी कृत *भक्तिरसामृत सिन्धु* में (१.२.१८७) हुई है—*निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते।*

कृष्णभावनामृत में रत रहने वाला भगवद्भक्त स्वतः मुक्त हो जाता है। *नारद पञ्चरात्र* में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्ने कृष्णे चेतो विधाय च।
तन्मयो भवति क्षिप्रं जीवो ब्रह्मणि योजयेत्॥

"देश-काल से अतीत तथा सर्वव्यापी श्रीकृष्ण के दिव्यरूप में ध्यान एकाग्र करने से मनुष्य कृष्ण के चिन्तन में तन्मय हो जाता है और तब उनके दिव्य सान्निध्य की सुखी अवस्था को प्राप्त होता है।"

योगाभ्यास में समाधि की सर्वोच्च अवस्था कृष्णभावनामृत है। केवल इस ज्ञान से कि कृष्ण प्रत्येक जन के हृदय में परमात्मा रूप में उपस्थित हैं योगी निर्दोष हो जाता है। वेदों से (*गोपालतापनी उपनिषद्* १.२१) भगवान् की इस अचिन्त्य शक्ति की पुष्टि इस प्रकार होती है—*एकोऽपि सन्बहुधा योऽवभाति*—"यद्यपि भगवान् एक है, किन्तु वह जितने सारे हृदय हैं उनमें उपस्थित रहता है।" इसी प्रकार स्मृति शास्त्र का कथन है—

एक एव परो विष्णुः सर्वव्यापी न संशयः।
ऐश्वर्याद् रूपमेकं च सूर्यवत् बहुधेयते॥

"विष्णु एक हैं फिर भी वे सर्वव्यापी हैं। एक रूप होते हुए भी वे अपनी अचिन्त्य शक्ति से सर्वत्र उपस्थित रहते हैं, जिस प्रकार सूर्य एक ही समय अनेक स्थानों में दिखता है।"

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ ३२॥

आत्म—अपनी; **औपम्येन**—तुलना से; **सर्वत्र**—सभी जगह; **समम्**—समान रूप से; **पश्यति**—देखता है; **यः**—जो; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **सुखम्**—सुख; **वा**—अथवा; **यदि**—यदि; **वा**—अथवा; **दुःखम्**—दुख; **सः**—वह; **योगी**—योगी; **परमः**—परम पूर्ण; **मतः**—माना जाता है।

हे अर्जुन! वह पूर्णयोगी है जो अपनी तुलना से समस्त प्राणियों की उनके सुखों तथा दुखों में वास्तविक समानता का दर्शन करता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित व्यक्ति पूर्ण योगी होता है। वह अपने व्यक्तिगत अनुभव से प्रत्येक प्राणी के सुख तथा दुख से अवगत होता है। जीव के दुख का कारण ईश्वर से अपने सम्बन्ध का विस्मरण होना है। सुख का कारण कृष्ण को मनुष्यों के समस्त कार्यों का परम भोक्ता, समस्त भूमि तथा लोकों का स्वामी एवं समस्त जीवों का परम हितैषी मित्र समझना है। पूर्ण योगी यह जानता है कि भौतिक प्रकृति के गुणों से प्रभावित बद्धजीव कृष्ण से अपने सम्बन्ध को भूल जाने के कारण तीन प्रकार के भौतिक तापों (दुखों) को भोगता है; और चूँकि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति सुखी होता है इसलिए वह कृष्णज्ञान को सर्वत्र वितरित कर देना चाहता है। चूँकि पूर्णयोगी कृष्णभावनाभावित बनने के महत्त्व को घोषित करता चलता है, अतः वह विश्व का सर्वश्रेष्ठ उपकारी एवं भगवान् का प्रियतम सेवक है। *न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः* (*भगवद्गीता* १८.६९)। दूसरे शब्दों में, भगवद्भक्त सदैव जीवों के कल्याण को देखता है और इस तरह वह

प्रत्येक प्राणी का सखा होता है। वह सर्वश्रेष्ठ योगी है क्योंकि वह स्वान्तःसुखाय सिद्धि नहीं चाहता, अपितु अन्यों के लिए भी चाहता है। वह अपने मित्र जीवों से द्वेष नहीं करता। यही है वह अन्तर जो एक भगवद्भक्त तथा आत्मोन्नति में ही रुचि रखने वाले योगी में होता है। जो योगी पूर्णरूप से ध्यान धरने के लिए एकान्त स्थान में चला जाता है, वह उतना पूर्ण नहीं होता जितना कि वह भक्त जो प्रत्येक व्यक्ति को कृष्णभावनाभावित बनाने का प्रयास करता रहता है।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥ ३३॥

अर्जुनः उवाच–अर्जुन ने कहा; **यः-अयम्**–यह पद्धति; **योगः**–योग; **त्वया**–तुम्हारे द्वारा; **प्रोक्तः**–कही गई; **साम्येन**–सामान्यतया; **मधुसूदन**–हे मधु असुर के संहर्ता; **एतस्य**–इसकी; **अहम्**–मैं; **न**–नहीं; **पश्यामि**–देखता हूँ; **चञ्चलत्वात्**–चंचल होने के कारण; **स्थितिम्**–स्थिति को; **स्थिराम्**–स्थायी।

अर्जुन ने कहा—हे मधुसूदन! आपने जिस योगपद्धति का संक्षेप में वर्णन किया है, वह मेरे लिए अव्यावहारिक तथा असहनीय है, क्योंकि मन चंचल तथा अस्थिर है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के लिए *शुचौ देशे* से लेकर *योगी परमो मतः* तक जिस योगपद्धति का वर्णन किया है उसे अर्जुन अपनी असमर्थता के कारण अस्वीकार कर रहा है। इस कलियुग में सामान्य व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह अपना घर छोड़कर किसी पर्वत या जंगल के एकान्त स्थान में जाकर योगाभ्यास करे। आधुनिक युग की विशेषता है—अल्पकालिक जीवन के लिए घोर संघर्ष। लोग सरल, व्यावहारिक साधनों से भी आत्म-साक्षात्कार के लिए उत्सुक या गम्भीर नहीं हैं तो फिर इस कठिन योगपद्धति के विषय में क्या कहा जा सकता है जो जीवन शैली, आसन विधि, स्थान के चयन तथा भौतिक व्यस्तताओं से विरक्ति का नियमन करती है। व्यावहारिक व्यक्ति के रूप में अर्जुन ने सोचा कि इस योगपद्धति का पालन असम्भव है, भले ही वह कई बातों में इस पद्धति पर खरा उतरता था। वह राजवंशी था और उसमें अनेक सद्गुण थे, वह महान योद्धा था, वह दीर्घायु था और सबसे बड़ी बात तो यह कि वह भगवान् श्रीकृष्ण का घनिष्ठ मित्र था। पाँच हजार वर्ष पूर्व अर्जुन को हमसे अधिक सुविधाएँ प्राप्त थीं तो भी उसने इस योगपद्धति को स्वीकार करने से मना कर दिया। वास्तव में इतिहास में कोई ऐसा प्रलेख प्राप्त नहीं है जिससे यह ज्ञात हो सके कि उसने कभी योगाभ्यास किया हो। अतः इस पद्धति को इस कलियुग के लिए सर्वथा दुष्कर समझना चाहिए। हाँ, कतिपय विरले व्यक्तियों के लिए यह पद्धति सुगम हो सकती है, किन्तु सामान्यजनों के लिए यह असम्भव प्रस्ताव है। यदि पाँच हजार वर्ष पूर्व ऐसा था तो आधुनिक समय के लिए क्या कहना? जो लोग विभिन्न तथाकथित स्कूलों तथा समितियों के द्वारा इस योगपद्धति का अनुकरण कर रहे हैं, भले ही सन्तोषजनक प्रतीत हो, किन्तु

वे सचमुच ही अपना समय गँवा रहे हैं। वे अपने अभीष्ट लक्ष्य के प्रति सर्वथा अज्ञानी हैं।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ३४॥

चञ्चलम्—चंचल; **हि**—निश्चय ही; **मनः**—मन; **कृष्ण**—हे कृष्ण; **प्रमाथि**—विचलित करने वाला, क्षुब्ध करने वाला; **बल-वत्**—बलवान्; **दृढम्**—दुराग्रही, हठीला; **तस्य**—उसका; **अहम्**—मैं; **निग्रहम्**—वश में करना; **मन्ये**—सोचता हूँ; **वायोः**—वायु की; **इव**—तरह; **सु-दुष्करम्**—कठिन।

हे कृष्ण! चूँकि मन चंचल (अस्थिर), उच्छृंखल, हठीला तथा अत्यन्त बलवान है, अतः मुझे इसे वश में करना वायु को वश में करने से भी अधिक कठिन लगता है।

तात्पर्य : मन इतना बलवान् तथा दुराग्रही है कि कभी-कभी यह बुद्धि का उल्लंघन कर देता है, यद्यपि उसे बुद्धि के अधीन माना जाता है। इस व्यवहार-जगत् में जहाँ मनुष्य को अनेक विरोधी तत्त्वों से संघर्ष करना होता है उसके लिए मन को वश में कर पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। कृत्रिम रूप में मनुष्य अपने मित्र तथा शत्रु दोनों के प्रति मानसिक संतुलन स्थापित कर सकता है, किन्तु अंतिम रूप में कोई भी संसारी पुरुष ऐसा नहीं कर पाता, क्योंकि ऐसा कर पाना वेगवान वायु को वश में करने से भी कठिन है। वैदिक साहित्य (*कठोपनिषद्* १.३.३-४) में कहा गया है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

"प्रत्येक व्यक्ति इस भौतिक शरीर रूपी रथ पर आरूढ है और बुद्धि इसका सारथी है। मन लगाम है तथा इन्द्रियाँ घोड़े हैं। इस प्रकार मन तथा इन्द्रियों की संगति से यह आत्मा सुख या दुख का भोक्ता है। ऐसा बड़े-बड़े चिन्तकों का कहना है।" यद्यपि बुद्धि को मन का नियन्त्रण करना चाहिए, किन्तु मन इतना प्रबल तथा हठी है कि इसे अपनी बुद्धि से भी जीत पाना कठिन हो जाता है जिस प्रकार कि अच्छी से अच्छी दवा द्वारा कभी-कभी रोग वश में नहीं हो पाता। ऐसे प्रबल मन को योगाभ्यास द्वारा वश में किया जा सकता है, किन्तु ऐसा अभ्यास कर पाना अर्जुन जैसे संसारी व्यक्ति के लिए कभी भी व्यावहारिक नहीं होता। तो फिर आधुनिक मनुष्य के सम्बन्ध में क्या कहा जाय? यहाँ पर प्रयुक्त उपमा अत्यन्त उपयुक्त है—झंझावात को रोक पाना कठिन होता है और उच्छृंखल मन को रोक पाना तो और भी कठिन है। मन को वश में रखने का सरलतम उपाय, जिसे भगवान् चैतन्य ने सुझाया है, यह है कि समस्त दैन्यता के साथ मोक्ष के लिए "*हरे कृष्ण*" महामन्त्र का कीर्तन किया जाय। विधि यह है—*स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोः*—मनुष्य को चाहिए कि वह अपने मन को पूर्णतया कृष्ण में लगाए। तभी मन को विचलित करने के लिए अन्य व्यस्तताएँ शेष नहीं रह जाएँगी।

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। ३५।।

श्रीभगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **असंशयम्**—निस्सन्देह; **महाबाहो**—हे बलिष्ठ भुजाओं वाले; **मनः**—मन को; **दुर्निग्रहम्**—दमन करना कठिन है; **चलम्**—चलायमान, चंचल; **अभ्यासेन**—अभ्यास द्वारा; **तु**—लेकिन; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **वैराग्येण**—वैराग्य द्वारा; **च**—भी; **गृह्यते**—इस तरह वश में किया जा सकता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—हे महाबाहु कुन्तीपुत्र! निस्सन्देह चंचल मन को वश में करना अत्यन्त कठिन है, किन्तु उपयुक्त अभ्यास द्वारा तथा विरक्ति द्वारा ऐसा सम्भव है।

तात्पर्य : अर्जुन द्वारा व्यक्त इस हठीले मन को वश में करने की कठिनाई को भगवान् स्वीकार करते हैं। किन्तु साथ ही वे सुझाते हैं कि अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा यह सम्भव है। यह अभ्यास क्या है? वर्तमान युग में तीर्थवास, परमात्मा का ध्यान, मन तथा इन्द्रियों का निग्रह, ब्रह्मचर्यपालन, एकान्त-वास आदि कठोर विधि-विधानों का पालन कर पाना सम्भव नहीं है। किन्तु कृष्णभावनामृत के अभ्यास से मनुष्य भगवान् की नवधाभक्ति का आचरण करता है। ऐसी भक्ति का प्रथम अंग है—कृष्ण के विषय में श्रवण करना। मन को समस्त प्रकार की दुश्चिन्ताओं से शुद्ध करने के लिए यह परम शक्तिशाली एवं दिव्य विधि है। कृष्ण के विषय में जितना ही अधिक श्रवण किया जाता है, उतना ही मनुष्य उन वस्तुओं के प्रति अनासक्त होता है जो मन को कृष्ण से दूर ले जाने वाली हैं। मन को उन सारे कार्यों से विरक्त कर लेने पर, जिनसे कृष्ण का कोई सम्बन्ध नहीं है, मनुष्य सुगमतापूर्वक वैराग्य सीख सकता है। वैराग्य का अर्थ है—पदार्थ से विरक्ति और मन का आत्मा में प्रवृत्त होना। निर्विशेष आध्यात्मिक विरक्ति कृष्ण के कार्यकलापों में मनको लगाने की अपेक्षा अधिक कठिन है। यह व्यावहारिक है, क्योंकि कृष्ण के विषय में श्रवण करने से मनुष्य स्वतः परमात्मा के प्रति आसक्त हो जाता है। यह आसक्ति *परेशानुभूति* या आध्यात्मिक तुष्टि कहलाती है। यह वैसे ही है जिस तरह भोजन के प्रत्येक कौर से भूखे को तुष्टि प्राप्त होती है। भूख लगने पर मनुष्य जितना अधिक खाता जाता है, उतनी ही अधिक तुष्टि और शक्ति उसे मिलती जाती है। इसी प्रकार भक्ति सम्पन्न करने से दिव्य तुष्टि की अनुभूति होती है, क्योंकि मन भौतिक वस्तुओं से विरक्त हो जाता है। यह कुछ-कुछ वैसा ही है जैसे कुशल उपचार तथा सुपथ्य द्वारा रोग का इलाज। अतः भगवान् कृष्ण के कार्यकलापों का श्रवण उन्मत्त मन का कुशल उपचार है और कृष्ण को अर्पित भोजन ग्रहण करना रोगी के लिए उपयुक्त पथ्य है। यह उपचार ही कृष्णभावनामृत की विधि है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।। ३६।।

असंयत–उच्छृंखल; **आत्मना**–मन के द्वारा; **योगः**–आत्म-साक्षात्कार; **दुष्प्रापः**–प्राप्त करना कठिन; **इति**–इस प्रकार; **मे**–मेरा; **मतिः**–मत; **वश्य**–वशीभूत; **आत्मना**–मन से; **तु**–लेकिन; **यतता**–प्रयत्न करते हुए; **शक्यः**–व्यावहारिक; **अवाप्तुम्**–प्राप्त करना; **उपायतः**–उपयुक्त साधनों द्वारा।

जिसका मन उच्छृंखल है, उसके लिए आत्म-साक्षात्कार कठिन कार्य होता है, किन्तु जिसका मन संयमित है और जो समुचित उपाय करता है उसकी सफलता ध्रुव है। ऐसा मेरा मत है।

तात्पर्य : भगवान् घोषणा करते हैं कि जो व्यक्ति अपने मन को भौतिक व्यापारों से विलग करने का समुचित उपचार नहीं करता, उसे आत्म-साक्षात्कार में शायद ही सफलता प्राप्त हो सके। भौतिक भोग में मन लगाकर योग का अभ्यास करना मानो अग्नि में जल डाल कर उसे प्रज्ज्वलित करने का प्रयास करना हो। मन का निग्रह किये बिना योगाभ्यास समय का अपव्यय है। योग का ऐसा प्रदर्शन भले ही भौतिक दृष्टि से लाभप्रद हो, किन्तु जहाँ तक आत्म-साक्षात्कार का प्रश्न है यह सब व्यर्थ है। अतः मनुष्य को चाहिए कि भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर मन को लगाकर उसे वश में करे। कृष्णभावनामृत में प्रवृत्त हुए बिना मन को स्थिर कर पाना असम्भव है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के ही योगाभ्यास का फल सरलता से प्राप्त कर लेता है, किन्तु योगाभ्यास करने वाले को कृष्णभावनाभावित हुए बिना सफलता नहीं मिल पाती।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ ३७॥

अर्जुनः उवाच–अर्जुन ने कहा; **अयतिः**–असफल योगी; **श्रद्धया**–श्रद्धा से; **उपेतः**–लगा हुआ, संलग्न; **योगात्**–योग से; **चलित**–विचलित; **मानसः**–मन वाला; **अप्राप्य**–प्राप्त न करके; **योग-संसिद्धिम्**–योग की सर्वोच्च सिद्धि को; **काम्**–किस; **गतिम्**–लक्ष्य को; **कृष्ण**–हे कृष्ण; **गच्छति**–प्राप्त करता है।

अर्जुन ने कहाः हे कृष्ण! उस असफल योगी की गति क्या है जो प्रारम्भ में श्रद्धापूर्वक आत्म-साक्षात्कार की विधि ग्रहण करता है, किन्तु बाद में भौतिकता के कारण उससे विचलित हो जाता है और योगसिद्धि को प्राप्त नहीं कर पाता?

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में आत्म-साक्षात्कार या योग मार्ग का वर्णन है। आत्म-साक्षात्कार का मूलभूत नियम यह है कि जीवात्मा यह भौतिक शरीर नहीं है, अपितु इससे भिन्न है और उसका सुख शाश्वत जीवन, आनन्द तथा ज्ञान में निहित है। ये शरीर तथा मन दोनों से परे हैं। आत्म-साक्षात्कार की खोज ज्ञान द्वारा की जाती है। इसके लिए अष्टांग विधि या भक्तियोग का अभ्यास करना होता है। इनमें से प्रत्येक विधि में जीव को अपनी स्वाभाविक स्थिति, भगवान् से अपने सम्बन्ध तथा उन कार्यों की अनुभूति प्राप्त करनी होती है, जिनके द्वारा वह टूटी हुई शृंखला को जोड़ सके और कृष्णभावनामृत की सर्वोच्च

सिद्ध-अवस्था प्राप्त कर सके। इन तीनों विधियों में से किसी एक का भी पालन करके मनुष्य देर-सवेर अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त होता है। भगवान् ने द्वितीय अध्याय में इस पर बल दिया है कि दिव्यमार्ग में थोड़े से प्रयास से भी मोक्ष की महती आशा है। इन तीनों में से इस युग के लिए भक्तियोग विशेष रूप से उपयुक्त है, क्योंकि ईश-साक्षात्कार की यह श्रेष्ठतम प्रत्यक्ष विधि है, अतः अर्जुन पुनः आश्वस्त होने की दृष्टि से भगवान् कृष्ण से अपने पूर्वकथन की पुष्टि करने को कहता है। भले ही कोई आत्म-साक्षात्कार के मार्ग को निष्ठापूर्वक क्यों न स्वीकार करे, किन्तु ज्ञान की अनुशीलन विधि तथा अष्टांगयोग का अभ्यास इस युग के लिए सामान्यतया बहुत कठिन है, अतः निरन्तर प्रयास होने पर भी मनुष्य अनेक कारणों से असफल हो सकता है। पहला कारण तो यह हो सकता है कि मनुष्य इस विधि का पालन करने में पर्याप्त सतर्क न रह पाये। दिव्यमार्ग का अनुसरण बहुत कुछ माया के ऊपर धावा बोलना जैसा है। फलतः जब भी मनुष्य माया के पाश से छूटना चाहता है, तब वह विविध प्रलोभनों के द्वारा अभ्यासकर्ता को पराजित करना चाहती है। बद्धजीव पहले से प्रकृति के गुणों द्वारा मोहित रहता है और दिव्य अनुशासनों का पालन करते समय भी उसके पुनः मोहित होने की सम्भावना बनी रहती है। यही *योगाच्चलितमानस* अर्थात् दिव्य पथ से विचलन कहलाता है। अर्जुन आत्म-साक्षात्कार के मार्ग से विचलन के प्रभाव के सम्बन्ध में जिज्ञासा करता है।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥ ३८॥

कच्चित्—क्या; **न**—नहीं; **उभय**—दोनों; **विभ्रष्टः**—विचलित; **छिन्न**—छिन्न-भिन्न; **अभ्रम्**—बादल; **इव**—सदृश; **नश्यति**—नष्ट हो जाता है; **अप्रतिष्ठः**—बिना किसी पद के; **महा-बाहो**—हे बलिष्ठ भुजाओं वाले कृष्ण; **विमूढः**—मोहग्रस्त; **ब्रह्मणः**—ब्रह्म-प्राप्ति के; **पथि**—मार्ग में।

हे महाबाहु कृष्ण! क्या ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग से भ्रष्ट ऐसा व्यक्ति आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों ही सफलताओं से च्युत नहीं होता और छिन्नभिन्न बादल की भाँति विनष्ट नहीं हो जाता जिसके फलस्वरूप उसके लिए किसी लोक में कोई स्थान नहीं रहता?

तात्पर्य : उन्नति के दो मार्ग हैं। भौतिकतावादी व्यक्तियों की अध्यात्म में कोई रुचि नहीं होती, अतः वे आर्थिक विकास द्वारा भौतिक प्रगति में अत्यधिक रुचि लेते हैं या फिर समुचित कार्य द्वारा उच्चतर लोकों को प्राप्त करने में अधिक रुचि रखते हैं। यदि कोई अध्यात्म के मार्ग को चुनता है, तो उसे सभी प्रकार के तथाकथित भौतिक सुख से विरक्त होना पड़ता है। यदि महत्त्वाकांक्षी ब्रह्मवादी असफल होता है तो वह दोनों ओर से जाता है। दूसरे शब्दों में, वह न तो भौतिक सुख भोग पाता है, न आध्यात्मिक सफलता ही प्राप्त कर सकता है। उसका कोई स्थान नहीं रहता, वह छिन्न-भिन्न बादल के समान होता है। कभी-कभी आकाश में एक बादल छोटे बादलखंड से विलग होकर एक बड़े खंड से जा मिलता है, किन्तु यदि वह बड़े खंड से नहीं जुड़ पाता तो वायु उसे बहा ले जाती है और वह विराट आकाश में लुप्त हो जाता है। *ब्रह्मणः पथि* ब्रह्म-साक्षात्कार का मार्ग

है जो अपने आपको परमेश्वर का अभिन्न अंश जान लेने पर प्राप्त होता है और यह परमेश्वर ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् रूप में प्रकट होता है। भगवान् श्रीकृष्ण परम सत्य के पूर्ण प्राकट्य हैं, अतः जो इस परमपुरुष की शरण में जाता है वही सफल योगी है। ब्रह्म तथा परमात्मा-साक्षात्कार के माध्यम से जीवन के इस लक्ष्य तक पहुँचने में अनेकानेक जन्म लग जाते हैं (*बहूनां जन्मनामन्ते*)। अतः दिव्य-साक्षात्कार का सर्वश्रेष्ठ मार्ग भक्तियोग या कृष्णभावनामृत की प्रत्यक्ष विधि है।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।। ३९।।

एतत्—यह है; **मे**—मेरा; **संशयम्**—सन्देह; **कृष्ण**—हे कृष्ण; **छेत्तुम्**—दूर करने के लिए; **अर्हसि**—आपसे प्रार्थना है; **अशेषतः**—पूर्णतया; **त्वत्**—आपकी अपेक्षा; **अन्यः**—दूसरा; **संशयस्य**—सन्देह का; **अस्य**—इस; **छेत्ता**—दूर करने वाला; **न**—नहीं; **हि**—निश्चय ही; **उपपद्यते**—पाया जाना सम्भव है।

हे कृष्ण! यही मेरा सन्देह है, और मैं आपसे इसे पूर्णतया दूर करने की प्रार्थना कर रहा हूँ। आपके अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा नहीं है, जो इस सन्देह को नष्ट कर सके।

तात्पर्य : कृष्ण भूत, वर्तमान तथा भविष्य के जानने वाले हैं। *भगवद्गीता* के प्रारम्भ में भगवान् ने कहा है कि सारे जीव व्यष्टि रूप में भूतकाल में विद्यमान थे, इस समय विद्यमान हैं और भवबन्धन से मुक्त होने पर भविष्य में भी व्यष्टि रूप में बने रहेंगे। इस प्रकार उन्होंने व्यष्टि जीव के भविष्य विषयक प्रश्न का स्पष्टीकरण कर दिया है। अब अर्जुन असफल योगियों के भविष्य के विषय में जानना चाहता है। कोई न तो कृष्ण के समान है, न ही उनसे बड़ा। तथाकथित बड़े-बड़े ऋषि तथा दार्शनिक, जो प्रकृति की कृपा पर निर्भर हैं, निश्चय ही उनकी समता नहीं कर सकते। अतः समस्त सन्देहों का पूरा-पूरा उत्तर पाने के लिए कृष्ण का निर्णय अन्तिम तथा पूर्ण है क्योंकि वे भूत, वर्तमान तथा भविष्य के ज्ञाता हैं, किन्तु उन्हें कोई भी नहीं जानता। कृष्ण तथा कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ही जान सकते हैं कि कौन क्या है।

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।। ४०।।

श्रीभगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **न एव**—कभी ऐसा नहीं है; **इह**—इस संसार में; **न**—कभी नहीं; **अमुत्र**—अगले जन्म में; **विनाशः**—नाश; **तस्य**—उसका; **विद्यते**—होता है; **न**—कभी नहीं; **हि**—निश्चय ही; **कल्याण-कृत्**—शुभ कार्यों में लगा हुआ; **कश्चित्**—कोई भी; **दुर्गतिम्**—पतन को; **तात**—हे मेरे मित्र; **गच्छति**—जाता है।

भगवान् ने कहा—हे पृथापुत्र! कल्याण-कार्यों में निरत योगी का न तो इस लोक में और न परलोक में ही विनाश होता है। हे मित्र! भलाई करने वाला कभी बुराई से पराजित नहीं होता।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* में (१.५.१७) श्री नारद मुनि व्यासदेव को इस प्रकार उपदेश देते हैं—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥

"यदि कोई समस्त भौतिक आशाओं को त्याग कर भगवान् की शरण में जाता है तो इसमें न तो कोई क्षति होती है और न पतन। दूसरी ओर अभक्त जन अपने-अपने व्यवसायों में लगे रह सकते हैं फिर भी वे कुछ प्राप्त नहीं कर पाते।" भौतिक लाभ के लिए अनेक शास्त्रीय तथा लौकिक कार्य हैं। जीवन में आध्यात्मिक उन्नति अर्थात् कृष्णभावनामृत के लिए योगी को समस्त भौतिक कार्यकलापों का परित्याग करना होता है। कोई यह तर्क कर सकता है कि यदि कृष्णभावनामृत पूर्ण हो जाय तो इससे सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त हो सकती है, किन्तु यदि यह सिद्धि प्राप्त न हो पाई तो भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से मनुष्य को क्षति पहुँचती है। शास्त्रों का आदेश है कि यदि कोई स्वधर्म का आचरण नहीं करता तो उसे पापफल भोगना पड़ता है, अतः जो दिव्य कार्यों को ठीक से नहीं कर पाता उसे फल भोगना होता है। *भागवत पुराण* आश्वस्त करता है कि असफल योगी को चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। भले ही उसे ठीक से स्वधर्माचरण न करने का फल भोगना पड़े तो भी वह घाटे में नहीं रहता क्योंकि शुभ कृष्णभावनामृत कभी विस्मृत नहीं होता। जो इस प्रकार से लगा रहता है वह अगले जन्म में निम्नयोनि में भी जन्म लेकर पहले की भाँति भक्ति करता है। दूसरी ओर, जो केवल नियत कार्यों को दृढ़तापूर्वक करता है, किन्तु यदि उसमें कृष्णभावनामृत का अभाव है तो आवश्यक नहीं कि उसे शुभ फल प्राप्त हो।

इस श्लोक का तात्पर्य इस प्रकार है—मानवता के दो विभाग किये जा सकते हैं— नियमित तथा अनियमित। जो लोग अगले जन्म तथा मुक्ति के ज्ञान के बिना पाशविक इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं वे अनियमित विभाग में आते हैं। जो लोग शास्त्रों में वर्णित कर्तव्य के सिद्धान्तों का पालन करते हैं वे नियमित विभाग में वर्गीकृत होते हैं। अनियमित विभाग के संस्कृत तथा असंस्कृत, शिक्षित तथा अशिक्षित, बली तथा निर्बल लोग पाशविक वृत्तियों से पूर्ण होते हैं। उनके कार्य कभी भी कल्याणकारी नहीं होते क्योंकि वे पशुओं की भाँति आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन का भोग करते हुए इस संसार में निरन्तर रहते हैं, जो सदा ही दुखमय है। किन्तु जो लोग शास्त्रीय आदेशों के अनुसार संयमित रहते हैं और इस प्रकार क्रमशः कृष्णभावनामृत को प्राप्त होते हैं, वे निश्चित रूप से जीवन में उन्नति करते हैं।

कल्याण-मार्ग के अनुयायियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) भौतिक सम्पन्नता का उपभोग करने वाले शास्त्रीय विधि-विधानों के अनुयायी, (२) इस संसार से मुक्ति पाने के लिए प्रयत्नशील लोग तथा (३) कृष्णभावनामृत के भक्त। प्रथम वर्ग के अनुयायियों को पुनः दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—सकामकर्मी तथा इन्द्रियतृप्ति की इच्छा न करने वाले। सकामकर्मी जीवन के उच्चतर स्तर तक उठ सकते हैं—यहाँ तक कि स्वर्गलोक को जा सकते हैं तो भी इस संसार से मुक्त न होने के कारण वे सही ढंग से शुभ मार्ग का अनुगमन नहीं करते। शुभ कर्म तो वे हैं जिनसे मुक्ति प्राप्त

हो। कोई भी ऐसा कार्य जो परम आत्म-साक्षात्कार या देहात्मबुद्धि से मुक्ति की ओर उन्मुख नहीं होता वह रंचमात्र भी कल्याणप्रद नहीं होता। कृष्णभावनामृत सम्बन्धी कार्य ही एकमात्र शुभ कार्य है और जो भी कृष्णभावनामृत के मार्ग पर प्रगति करने के उद्देश्य से स्वेच्छा से समस्त शारीरिक असुविधाओं को स्वीकार करता है वही घोर तपस्या के द्वारा पूर्णयोगी कहलाता है। चूँकि अष्टांगयोग पद्धति कृष्णभावनामृत की चरम अनुभूति के लिए होती है, अतः यह पद्धति भी कल्याणप्रद है, अतः जो कोई इस दिशा में यथाशक्य प्रयास करता है उसे कभी अपने पतन के प्रति भयभीत नहीं होना चाहिए।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ ४१॥

प्राप्य—प्राप्त करके; **पुण्य-कृताम्**—पुण्य कर्म करने वालों के; **लोकान्**—लोकों में; **उषित्वा**—निवास करके; **शाश्वतीः**—अनेक; **समाः**—वर्ष; **शुचीनाम्**—पवित्रात्माओं के; **श्री-मताम्**—सम्पन्न लोगों के; **गेहे**—घर में; **योग-भ्रष्टः**—आत्म-साक्षात्कार के पथ से च्युत व्यक्ति; **अभिजायते**—जन्म लेता है।

असफल योगी पवित्रात्माओं के लोकों में अनेकानेक वर्षों तक भोग करने के बाद या तो सदाचारी पुरुषों के परिवार में या कि धनवानों के कुल में जन्म लेता है।

तात्पर्य : असफल योगियों की दो श्रेणियाँ हैं—एक वे जो बहुत थोड़ी उन्नति के बाद ही भ्रष्ट होते हैं; दूसरे वे जो दीर्घकाल तक योगाभ्यास के बाद भ्रष्ट होते हैं। जो योगी अल्पकालिक अभ्यास के बाद भ्रष्ट होता है वह स्वर्गलोक को जाता है जहाँ केवल पुण्यात्माओं को प्रविष्ट होने दिया जाता है। वहाँ पर दीर्घकाल तक रहने के बाद उसे पुनः इस लोक में भेजा जाता है जिससे वह किसी सदाचारी ब्राह्मण वैष्णव के कुल में या धनवान वणिक के कुल में जन्म ले सके। योगाभ्यास का वास्तविक उद्देश्य कृष्णभावनामृत की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करना है, जैसा कि इस अध्याय के अन्तिम श्लोक में बताया गया है, किन्तु जो इतने अध्यवसायी नहीं होते और जो भौतिक प्रलोभनों के कारण असफल हो जाते हैं, उन्हें अपनी भौतिक इच्छाओं की पूर्ति करने की अनुमति दी जाती है। तत्पश्चात् उन्हें सदाचारी या धनवान परिवारों में सम्पन्न जीवन बिताने का अवसर प्रदान किया जाता है। ऐसे परिवारों में जन्म लेने वाले इन सुविधाओं का लाभ उठाते हुए अपने आपको पूर्ण कृष्णभावनामृत तक ऊपर ले जाते हैं।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥ ४२॥

अथवा—या; **योगिनाम्**—विद्वान योगियों के; **एव**—निश्चय ही; **कुले**—परिवार में; **भवति**—जन्म लेता है; **धी-मताम्**—परम बुद्धिमानों के; **एतत्**—यह; **हि**—निश्चय ही; **दुर्लभ-तरम्**—अत्यन्त दुर्लभ; **लोके**—इस संसार में; **जन्म**—जन्म; **यत्**—जो; **ईदृशम्**—इस प्रकार का।

अथवा (यदि दीर्घकाल तक योग करने के बाद असफल रहे तो) वह ऐसे योगियों के कुल में जन्म लेता है जो अति बुद्धिमान हैं। निश्चय ही इस संसार में ऐसा जन्म दुर्लभ है।

तात्पर्य : यहाँ पर योगियों के बुद्धिमान कुल में जन्म लेने की प्रशंसा की गई है क्योंकि ऐसे कुल में उत्पन्न बालक को प्रारम्भ से ही आध्यात्मिक प्रोत्साहन प्राप्त होता है। विशेषतया आचार्यों या गोस्वामियों के कुल में ऐसी परिस्थिति है। ऐसे कुल अत्यन्त विद्वान् होते हैं और परम्परा तथा प्रशिक्षण के कारण श्रद्धावान होते हैं। इस प्रकार वे गुरु बनते हैं। भारत में ऐसे अनेक आचार्य कुल हैं, किन्तु अब वे अपर्याप्त विद्या तथा प्रशिक्षण के कारण पतनशील हो चुके हैं। भगवत्कृपा से अभी भी कुछ ऐसे परिवार हैं जिनमें पीढ़ी-दर-पीढ़ी योगियों को प्रश्रय मिलता है। ऐसे परिवारों में जन्म लेना सचमुच ही अत्यन्त सौभाग्य की बात है। सौभाग्यवश हमारे गुरु विष्णुपाद श्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज को तथा स्वयं हमें भी ऐसे परिवारों में जन्म लेने का अवसर प्राप्त हुआ। हम दोनों को बचपन से ही भगवद्भक्ति करने का प्रशिक्षण दिया गया। बाद में दिव्य व्यवस्था के अनुसार हमारी उनसे भेंट हुई।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥ ४३॥

तत्र—वहाँ; **तम्**—उस; **बुद्धि-संयोगम्**—चेतना की जागृति को; **लभते**—प्राप्त होता है; **पौर्व-देहिकम्**—पूर्व देह से; **यतते**—प्रयास करता है; **च**—भी; **ततः**—तत्पश्चात्; **भूयः**—पुनः; **संसिद्धौ**—सिद्धि के लिए; **कुरुनन्दन**—हे कुरुपुत्र।

हे कुरुनन्दन! ऐसा जन्म पाकर वह अपने पूर्वजन्म की दैवी चेतना को पुनः प्राप्त करता है और पूर्ण सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से वह आगे उन्नति करने का प्रयास करता है।

तात्पर्य : राजा भरत, जिन्हें तीसरे जन्म में उत्तम ब्राह्मण कुल में जन्म मिला, पूर्व दिव्यचेतना की पुनःप्राप्ति के लिए उत्तम जन्म के उदाहरणस्वरूप हैं। भरत विश्व भर के सम्राट थे और तभी से यह लोक देवताओं के बीच भारतवर्ष के नाम से विख्यात है। पहले यह इलावृतवर्ष के नाम से ज्ञात था। भरत ने अल्पायु में ही आध्यात्मिक सिद्धि के लिए संन्यास ग्रहण कर लिया था, किन्तु वे सफल नहीं हो सके। अगले जन्म में उन्हें उत्तम ब्राह्मण कुल में जन्म लेना पड़ा और वे जड़ भरत कहलाये क्योंकि वे एकान्त वास करते थे तथा किसी से बोलते न थे। बाद में राजा रहूगण ने इन्हें महानतम योगी के रूप में पाया। उनके जीवन से यह पता चलता है कि दिव्य प्रयास अथवा योगाभ्यास कभी व्यर्थ नहीं जाता। भगवत्कृपा से योगी को कृष्णभावनामृत में पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने के बारम्बार सुयोग प्राप्त होते रहते हैं।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ ४४॥

पूर्व—पिछला; **अभ्यासेन**—अभ्यास से; **तेन**—उससे; **एव**—ही; **ह्रियते**—आकर्षित होता है; **हि**—निश्चय ही; **अवशः**—स्वतः; **अपि**—भी; **सः**—वह; **जिज्ञासुः**—उत्सुक; **अपि**—भी; **योगस्य**—योग के विषय में; **शब्द-ब्रह्म**—शास्त्रों के अनुष्ठान; **अतिवर्तते**—परे चला जाता है, उल्लंघन करता है।

अपने पूर्वजन्म की दैवी चेतना से वह न चाहते हुए भी स्वतः योग के नियमों की ओर आकर्षित होता है। ऐसा जिज्ञासु योगी शास्त्रों के अनुष्ठानों से परे स्थित होता है।

तात्पर्य : उन्नत योगीजन शास्त्रों के अनुष्ठानों के प्रति अधिक आकृष्ट नहीं होते, किन्तु योग-नियमों के प्रति स्वतः आकृष्ट होते हैं, जिनके द्वारा वे कृष्णभावनामृत में आरूढ हो सकते हैं। *श्रीमद्भागवत* में (३.३३.७) उन्नत योगियों द्वारा वैदिक अनुष्ठानों के प्रति अवहेलना की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

"हे भगवन्! जो लोग आपके पवित्र नाम का जप करते हैं, वे चाण्डालों के परिवारों में जन्म लेकर भी आध्यात्मिक जीवन में अत्यधिक प्रगत होते हैं। ऐसे जपकर्ता निस्सन्देह सभी प्रकार के तप और यज्ञ कर चुके होते हैं, तीर्थस्थानों में स्नान कर चुके होते हैं और समस्त शास्त्रों का अध्ययन कर चुके होते हैं।"

इसका सुप्रसिद्ध उदाहरण भगवान् चैतन्य ने प्रस्तुत किया, जिन्होंने ठाकुर हरिदास को अपने परमप्रिय शिष्य के रूप में स्वीकार किया। यद्यपि हरिदास का जन्म एक मुसलमान परिवार में हुआ था, किन्तु भगवान् चैतन्य ने उन्हें नामाचार्य की पदवी प्रदान की क्योंकि वे प्रतिदिन नियमपूर्वक तीन लाख भगवान् के पवित्र नामों—*हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*— का जप करते थे। और चूँकि वे निरन्तर भगवान् के पवित्र नाम का जप करते रहते थे, अतः यह समझा जाता है कि पूर्वजन्म में उन्होंने शब्दब्रह्म नामक वेदवर्णित कर्मकाण्डों को पूरा किया होगा। अतएव जब तक कोई पवित्र नहीं होता तब तक कृष्णभावनामृत के नियमों को ग्रहण नहीं करता या भगवान् के पवित्र नाम *हरे कृष्ण* का जप नहीं कर सकता।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ ४५॥

प्रयत्नात्—कठिन अभ्यास से; **यतमानः**—प्रयास करते हुए; **तु**—तथा; **योगी**—ऐसा योगी; **संशुद्ध**—शुद्ध होकर; **किल्बिषः**—जिसके सारे पाप; **अनेक**—अनेकानेक; **जन्म**—जन्मों के बाद; **संसिद्धः**—सिद्धि प्राप्त करके; **ततः**—तत्पश्चात्; **याति**—प्राप्त करता है; **पराम्**—सर्वोच्च; **गतिम्**—गन्तव्य को।

और जब योगी समस्त कल्मष से शुद्ध होकर सच्ची निष्ठा से आगे प्रगति करने का प्रयास करता है, तो अन्ततोगत्वा अनेकानेक जन्मों के अभ्यास के पश्चात् सिद्धि-लाभ करके वह परम गन्तव्य को प्राप्त करता है।

तात्पर्य : सदाचारी, धनवान या पवित्र कुल में उत्पन्न पुरुष योगाभ्यास के अनुकूल परिस्थिति से सचेष्ट हो जाता है। अतः वह दृढ़ संकल्प करके अपने अधूरे कार्य को करने में लग जाता है और इस प्रकार वह अपने को समस्त भौतिक कल्मष से शुद्ध

कर लेता है। समस्त कल्मष से मुक्त होने पर उसे परम सिद्धि—कृष्णभावनामृत—प्राप्त होती है। कृष्णभावनामृत ही समस्त कल्मष से मुक्त होने की पूर्ण अवस्था है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में (७.२८) हुई है—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

"अनेक जन्मों तक पुण्यकर्म करने से जब कोई समस्त कल्मष तथा मोहमय द्वन्द्वों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है, तभी वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग पाता है।"

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥ ४६॥

तपस्विभ्यः—तपस्वियों से; **अधिकः**—श्रेष्ठ, बढ़कर; **योगी**—योगी; **ज्ञानिभ्यः**—ज्ञानियों से; **अपि**—भी; **मतः**—माना जाता है; **अधिक**—बढ़कर; **कर्मिभ्यः**—सकाम कर्मियों की अपेक्षा; **च**—भी; **अधिकः**—श्रेष्ठ; **योगी**—योगी; **तस्मात्**—अतः; **योगी**—योगी; **भव**—बनो, होओ; **अर्जुन**—हे अर्जुन।

योगी पुरुष तपस्वी से, ज्ञानी से तथा सकामकर्मी से बढ़कर होता है। अतः हे अर्जुन! तुम सभी प्रकार से योगी बनो।

तात्पर्य : जब हम योग का नाम लेते हैं तो हम अपनी चेतना को परम सत्य के साथ जोड़ने की बात करते हैं। विविध अभ्यासकर्ता इस पद्धति को ग्रहण की गई विशेष विधि के अनुसार विभिन्न नामों से पुकारते हैं। जब यह योगपद्धति सकामकर्मों से मुख्यतः सम्बन्धित होती है तो कर्मयोग कहलाती है, जब यह चिन्तन से सम्बन्धित होती है तो ज्ञानयोग कहलाती है और जब यह भगवान् की भक्ति से सम्बन्धित होती है तो भक्तियोग कहलाती है। भक्तियोग या कृष्णभावनामृत समस्त योगों की परमसिद्धि है, जैसा कि अगले श्लोक में बताया जायेगा। भगवान् ने यहाँ पर योग की श्रेष्ठता की पुष्टि की है, किन्तु उन्होंने इसका उल्लेख नहीं किया कि यह भक्तियोग से श्रेष्ठ है। भक्तियोग पूर्ण आत्मज्ञान है, अतः इससे बढ़कर कुछ भी नहीं है। आत्मज्ञान के बिना तपस्या अपूर्ण है। परमेश्वर के प्रति समर्पित हुए बिना ज्ञानयोग भी अपूर्ण है। सकामकर्म भी कृष्णभावनामृत के बिना समय का अपव्यय है। अतः यहाँ पर योग का सर्वाधिक प्रशंसित रूप भक्तियोग है और इसकी अधिक व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ४७॥

योगिनाम्—योगियों में से; **अपि**—भी; **सर्वेषाम्**—समस्त प्रकार के; **मत्-गतेन**—मेरे परायण, सदैव मेरे विषय में सोचते हुए; **अन्तः-आत्मना**—अपने भीतर; **श्रद्धावान्**—पूर्ण श्रद्धा सहित; **भजते**—दिव्य प्रेमाभक्ति करता है; **यः**—जो; **माम्**—मेरी (परमेश्वर की); **सः**—वह; **मे**—मेरे द्वारा; **युक्त-तमः**—परम योगी; **मतः**—माना जाता है।

और समस्त योगियों में से जो योगी अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मेरे परायण है, अपने अन्तःकरण में मेरे विषय में सोचता है और मेरी दिव्य प्रेमाभक्ति करता है वह योग

में मुझसे परम अन्तरंग रूप में युक्त रहता है और सबों में सर्वोच्च है। यही मेरा मत है।

तात्पर्य : यहाँ पर *भजते* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *भजते भज्* धातु से बना है जिसका अर्थ है—सेवा करना। अंग्रेजी शब्द वर्शिप (पूजन) से यह भाव व्यक्त नहीं होता, क्योंकि इससे पूजा करना, सम्मान दिखाना तथा योग्य का सम्मान करना सूचित होता है। किन्तु प्रेम तथा श्रद्धापूर्वक सेवा तो श्रीभगवान् के निमित्त है। किसी सम्माननीय व्यक्ति या देवता की पूजा न करने वाले को अशिष्ट कहा जा सकता है, किन्तु भगवान् की सेवा न करने वाले की तो पूरी तरह भर्त्सना की जाती है। प्रत्येक जीव भगवान् का अंशस्वरूप है और इस तरह प्रत्येक जीव को अपने स्वभाव के अनुसार भगवान् की सेवा करनी चाहिए। ऐसा न करने से वह नीचे गिर जाता है। *भागवत पुराण* में (११.५.३) इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥

"जो मनुष्य अपने जीवनदाता आद्य भगवान् की सेवा नहीं करता और अपने कर्तव्य में शिथिलता बरतता है, वह निश्चित रूप से अपनी स्वाभाविक स्थिति से नीचे गिरता है।"

भागवत पुराण के इस श्लोक में *भजन्ति* शब्द व्यवहृत हुआ है। *भजन्ति* शब्द का प्रयोग परमेश्वर के लिए ही प्रयुक्त किया जा सकता है, जबकि वर्शिप (पूजन) का प्रयोग देवताओं या अन्य किसी सामान्य जीव के लिए किया जाता है। इस श्लोक में प्रयुक्त *अवजानन्ति* शब्द *भगवद्गीता* में भी पाया जाता है—*अवजानन्ति मां मूढाः*—केवल मूर्ख तथा धूर्त भगवान् कृष्ण का उपहास करते हैं। ऐसे मूर्ख भगवद्भक्ति की प्रवृत्ति न होने पर भी *भगवद्गीता* का भाष्य कर बैठते हैं। फलतः वे *भजन्ति* तथा वर्शिप (पूजन) शब्दों के अन्तर को नहीं समझ पाते।

भक्तियोग समस्त योगों की परिणति है। अन्य योग तो भक्तियोग में भक्ति तक पहुँचने के साधन मात्र हैं। योग का वास्तविक अर्थ भक्तियोग है—अन्य सारे योग भक्तियोग रूपी गन्तव्य की दिशा में अग्रसर होते हैं। कर्मयोग से लेकर भक्तियोग तक का लम्बा रास्ता आत्म-साक्षात्कार तक जाता है। निष्काम कर्मयोग इस रास्ते (मार्ग) का आरम्भ है। जब कर्मयोग में ज्ञान तथा वैराग्य की वृद्धि होती है तो यह अवस्था ज्ञानयोग कहलाती है। जब ज्ञानयोग में अनेक भौतिक विधियों से परमात्मा के ध्यान में वृद्धि होने लगती है और मन उन पर लगा रहता है तो इसे अष्टांगयोग कहते हैं। इस अष्टांगयोग को पार करने पर जब मनुष्य श्रीभगवान् कृष्ण के निकट पहुँचता है तो यह भक्तियोग कहलाता है। यथार्थ में भक्तियोग ही चरम लक्ष्य है, किन्तु भक्तियोग का सूक्ष्म विश्लेषण करने के लिए अन्य योगों को समझना होता है। अतः जो योगी प्रगतिशील होता है वह शाश्वत कल्याण के सही मार्ग पर रहता है। जो किसी एक बिन्दु पर दृढ़ रहता है और आगे प्रगति नहीं करता वह कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, राजयोगी, हठयोगी आदि नामों से पुकारा जाता है। यदि कोई इतना भाग्यशाली होता है कि भक्तियोग को प्राप्त

हो सके तो यह समझना चाहिए कि उसने समस्त योगों को पार कर लिया है। अतः कृष्णभावनाभावित होना योग की सर्वोच्च अवस्था है, ठीक उसी तरह जैसे कि हम यह कहते हैं कि विश्व भर के पर्वतों में हिमालय सबसे ऊँचा है, जिसकी सर्वोच्च चोटी एवरेस्ट है।

कोई विरला भाग्यशाली ही वैदिक विधान के अनुसार भक्तियोग के पथ को स्वीकार करके कृष्णभावनाभावित हो पाता है। आदर्श योगी श्यामसुन्दर कृष्ण पर अपना ध्यान एकाग्र करता है, जो बादल के समान सुन्दर रंग वाले हैं, जिनका कमल सदृश मुख सूर्य के समान तेजवान है, जिनका वस्त्र रत्नों से प्रभापूर्ण है और जिनका शरीर फूलों की माला से सुशोभित है। उनके अंगों को प्रदीप्त करने वाली उनकी ज्योति ब्रह्मज्योति कहलाती है। वे राम, नृसिंह, वराह तथा श्रीभगवान् कृष्ण जैसे विभिन्न रूपों में अवतरित होते हैं। वे सामान्य व्यक्ति की भाँति, माता यशोदा के पुत्र रूप में जन्म ग्रहण करते हैं और कृष्ण, गोविन्द तथा वासुदेव के नाम से जाने जाते हैं। वे पूर्ण बालक, पूर्ण पति, पूर्ण सखा तथा पूर्ण स्वामी हैं, और वे समस्त ऐश्वर्यों तथा दिव्य गुणों से ओतप्रोत हैं। जो श्रीभगवान् के इन गुणों से पूर्णतया अभिज्ञ रहता है वह सर्वोच्च योगी कहलाता है।

योग की यह सर्वोच्च दशा केवल भक्तियोग से ही प्राप्त की जा सकती है जिसकी पुष्टि वैदिक साहित्य से होती है (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.२३)—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

"जिन महात्माओं के हृदय में श्रीभगवान् तथा गुरु में परम श्रद्धा होती है उनमें वैदिक ज्ञान का सम्पूर्ण तात्पर्य स्वतः प्रकाशित हो जाता है।"

भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येनामुष्मिन् मनःकल्पनमेतदेव नैष्कर्म्यम् —भक्ति का अर्थ है, भगवान् की सेवा जो इस जीवन में या अगले जीवन में भौतिक लाभ की इच्छा से रहित होती है। ऐसी प्रवृत्तियों से मुक्त होकर मनुष्य को अपना मन परमेश्वर में लीन करना चाहिये। नैष्कर्म्य का यही प्रयोजन है (*गोपाल-तापनी उपनिषद्* १.५)।

ये सभी कुछ ऐसे साधन हैं जिनसे योग की परम संसिद्धिमयी अवस्था भक्ति या कृष्णभावनामृत को सम्पन्न किया जा सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के छठे अध्याय "ध्यानयोग" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*

अध्याय सात

भगवद्ज्ञान

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ १॥

श्रीभगवान् उवाच—भगवान् कृष्ण ने कहा; **मयि**—मुझमें; **आसक्त-मनाः**—आसक्त मन वाला; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **योगम्**—आत्म-साक्षात्कार; **युञ्जन्**—अभ्यास करते हुए; **मत्-आश्रयः**—मेरी चेतना (कृष्णचेतना) में; **असंशयम्**—निस्सन्देह; **समग्रम्**—पूर्णतया; **माम्**—मुझको; **यथा**—जिस तरह; **ज्ञास्यसि**—जान सकते हो; **तत्**—वह; **शृणु**—सुनो।

श्रीभगवान् ने कहा— हे पृथापुत्र! अब सुनो कि तुम किस तरह मेरी भावना से पूर्ण होकर और मन को मुझमें आसक्त करके योगाभ्यास करते हुए मुझे पूर्णतया संशयरहित जान सकते हो।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के इस सातवें अध्याय में कृष्णभावनामृत की प्रकृति का विशद वर्णन हुआ है। कृष्ण समस्त ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं और वे इन्हें किस प्रकार प्रकट करते हैं,

इसका वर्णन इसमें हुआ है। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में इसका भी वर्णन है कि चार प्रकार के भाग्यशाली व्यक्ति कृष्ण के प्रति आसक्त होते हैं और चार प्रकार के भाग्यहीन व्यक्ति कृष्ण की शरण में कभी नहीं आते।

प्रथम छः अध्यायों में जीवात्मा को अभौतिक आत्मा के रूप में वर्णित किया गया है जो विभिन्न प्रकार के योगों द्वारा आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त हो सकता है। छठे अध्याय के अन्त में यह स्पष्ट कहा गया है कि मन को कृष्ण पर एकाग्र करना या दूसरे शब्दों में कृष्णभावनामृत ही सर्वोच्च योग है। मन को कृष्ण पर एकाग्र करने से ही मनुष्य परम सत्य को पूर्णतया जान सकता है, अन्यथा नहीं। निर्विशेष ब्रह्मज्योति या अन्तर्यामी परमात्मा की अनुभूति परम सत्य का पूर्णज्ञान नहीं है, क्योंकि यह आंशिक होती है। कृष्ण ही पूर्ण तथा वैज्ञानिक ज्ञान हैं और कृष्णभावनामृत में ही मनुष्य को सारी अनुभूति होती है। पूर्ण कृष्णभावनामृत में मनुष्य जान पाता है कि कृष्ण ही निस्सन्देह परम ज्ञान हैं। विभिन्न प्रकार के योग तो कृष्णभावनामृत के मार्ग के सोपान सदृश हैं। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत ग्रहण करता है, वह स्वतः ब्रह्मज्योति तथा परमात्मा के विषय में पूरी तरह जान लेता है। कृष्णभावनामृत योग का अभ्यास करके मनुष्य सभी वस्तुओं को—यथा परम सत्य, जीवात्माएँ, प्रकृति तथा साज-सामग्री समेत उनके प्राकट्य को पूरी तरह जान सकता है।

अतः मनुष्य को चाहिए कि छठे अध्याय के अन्तिम श्लोक के अनुसार योग का अभ्यास करे। परमेश्वर कृष्ण पर ध्यान की एकाग्रता को नवधा भक्ति के द्वारा सम्भव बनाया जाता है जिसमें *श्रवणम्* अग्रणी एवं सबसे महत्त्वपूर्ण है। अतः भगवान् अर्जुन से कहते हैं—*तच्छृणु*—अर्थात् "मुझसे सुनो"। कृष्ण से बढ़कर कोई प्रमाण नहीं, अतः उनसे सुनने का जिसे सौभाग्य प्राप्त होता है वह पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हो जाता है। अतः मनुष्य को या तो साक्षात् कृष्ण से या कृष्ण के शुद्धभक्त से सीखना चाहिए, न कि अपनी शिक्षा का अभिमान करने वाले अभक्त से।

परम सत्य श्रीभगवान् कृष्ण को जानने की विधि का वर्णन *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध के द्वितीय अध्याय में इस प्रकार हुआ है—

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति॥
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते॥
भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥

"वैदिक साहित्य से श्रीकृष्ण के विषय में सुनना या *भगवद्गीता* से साक्षात् उन्हीं से सुनना अपने आपमें पुण्यकर्म है। और जो प्रत्येक हृदय में वास करने वाले भगवान्

कृष्ण के विषय में सुनता है, उसके लिए वे शुभेच्छु मित्र की भाँति कार्य करते हैं और जो भक्त निरन्तर उनका श्रवण करता है, उसे वे शुद्ध कर देते हैं। इस प्रकार भक्त अपने सुप्त दिव्यज्ञान को फिर से पा लेता है। ज्यों-ज्यों वह भागवत तथा भक्तों से कृष्ण के विषय में अधिकाधिक सुनता है, त्यों-त्यों वह भगवद्भक्ति में स्थिर होता जाता है। भक्ति के विकसित होने पर वह रजो तथा तमो गुणों से मुक्त हो जाता है और इस प्रकार भौतिक काम तथा लोभ कम हो जाते हैं। जब ये कल्मष दूर हो जाते हैं तो भक्त सतोगुण में स्थिर हो जाता है, भक्ति के द्वारा स्फूर्ति प्राप्त करता है और भगवत्-तत्त्व को पूरी तरह जान लेता है। भक्तियोग भौतिक मोह की कठिन ग्रंथि को भेदता है और भक्त को *असंशयं समग्रम्* अर्थात् परम सत्य श्रीभगवान् को समझने की अवस्था को प्राप्त कराता है (*भागवत्* १.२.१७-२१)।"

अतः श्रीकृष्ण से या कृष्णभावनाभावित भक्तों के मुखों से सुनकर ही कृष्णतत्त्व को जाना जा सकता है।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ २॥

ज्ञानम्—प्रत्यक्ष ज्ञान; **ते**—तुमसे; **अहम्**—मैं; **स**—सहित; **विज्ञानम्**—दिव्यज्ञान; **इदम्**—यह; **वक्ष्यामि**—कहूँगा; **अशेषतः**—पूर्णरूप से; **यत्**—जिसे; **ज्ञात्वा**—जानकर; **न**—नहीं; **इह**—इस संसार में; **भूयः**—आगे; **अन्यत्**—अन्य कुछ; **ज्ञातव्यम्**—जानने योग्य; **अवशिष्यते**—शेष रहता है।

अब मैं तुमसे पूर्णरूप से व्यावहारिक तथा दिव्यज्ञान कहूँगा। इसे जान लेने पर तुम्हें जानने के लिए और कुछ भी शेष नहीं रहेगा।

तात्पर्य : पूर्णज्ञान में प्रत्यक्ष जगत्, इसके पीछे काम करने वाला आत्मा तथा इन दोनों के उद्गम सम्मिलित हैं। यह दिव्यज्ञान है। भगवान् उपर्युक्त ज्ञानपद्धति बताना चाहते हैं, क्योंकि अर्जुन उनका विश्वस्त भक्त तथा मित्र है। चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में इसकी व्याख्या भगवान् कृष्ण ने की और उसी की पुष्टि यहाँ पर हो रही है। भगवद्भक्त द्वारा पूर्णज्ञान का लाभ भगवान् से प्रारम्भ होने वाली गुरु-परम्परा से ही किया जा सकता है। अतः मनुष्य को इतना बुद्धिमान् तो होना ही चाहिए कि वह समस्त ज्ञान के उद्गम को जान सके, जो समस्त कारणों का कारण है और समस्त योगों में ध्यान का एकमात्र लक्ष्य है। जब समस्त कारणों के कारण का पता चल जाता है, तो सभी ज्ञेय वस्तुएँ ज्ञात हो जाती हैं और कुछ भी अज्ञेय नहीं रह जाता। वेदों का (*मुण्डक उपनिषद्* १.३) कहना है—*कस्मिन् भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति*।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३॥

मनुष्याणाम्—मनुष्यों में से; **सहस्रेषु**—हजारों; **कश्चित्**—कोई एक; **यतति**—प्रयत्न करता है; **सिद्धये**—सिद्धि के लिए; **यतताम्**—इस प्रकार प्रयत्न करने वाले; **अपि**—निस्सन्देह; **सिद्धानाम्**—सिद्ध

लोगों में से; **कश्चित्**–कोई एक; **माम्**–मुझको; **वेत्ति**–जानता है; **तत्त्वतः**–वास्तव में।

कई हजार मनुष्यों में से कोई एक सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है और इस तरह सिद्धि प्राप्त करने वालों में से विरला ही कोई एक मुझे वास्तव में जान पाता है।

तात्पर्य : मनुष्यों की विभिन्न कोटियाँ हैं और हजारों मनुष्यों में से शायद विरला मनुष्य ही यह जानने में रुचि रखता है कि आत्मा क्या है, शरीर क्या है, और परम सत्य क्या है। सामान्यतया मानव आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन जैसी पशुवृत्तियों में लगा रहता है और मुश्किल से कोई एक दिव्यज्ञान में रुचि रखता है। *गीता* के प्रथम छह अध्याय उन लोगों के लिए हैं जिनकी रुचि दिव्यज्ञान में, आत्मा, परमात्मा तथा ज्ञानयोग, ध्यानयोग द्वारा अनुभूति की क्रिया में तथा पदार्थ से आत्मा के पार्थक्य को जानने में है। किन्तु कृष्ण तो केवल उन्हीं व्यक्तियों द्वारा ज्ञेय हैं जो कृष्णभावनाभावित हैं। अन्य योगी निर्विशेष ब्रह्म-अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि कृष्ण को जानने की अपेक्षा यह सुगम है। कृष्ण परमपुरुष हैं, किन्तु साथ ही वे ब्रह्म तथा परमात्मा-ज्ञान से परे हैं। योगी तथा ज्ञानीजन कृष्ण को नहीं समझ पाते। यद्यपि महानतम निर्विशेषवादी (मायावादी) शंकराचार्य ने अपने *गीता- भाष्य* में स्वीकार किया है कि कृष्ण भगवान् हैं, किन्तु उनके अनुयायी इसे स्वीकार नहीं करते, क्योंकि भले ही किसी को निर्विशेष ब्रह्म की दिव्य अनुभूति क्यों न हो, कृष्ण को जान पाना अत्यन्त कठिन है।

कृष्ण भगवान् समस्त कारणों के कारण, आदि पुरुष गोविन्द हैं। *ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः। अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्*। अभक्तों के लिए उन्हें जान पाना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि अभक्तगण यह घोषित करते हैं कि भक्ति का मार्ग सुगम है, किन्तु वे इस पर चलते नहीं। यदि भक्तिमार्ग इतना सुगम है जितना अभक्तगण कहते हैं तो फिर वे कठिन मार्ग को क्यों ग्रहण करते हैं? वास्तव में भक्तिमार्ग सुगम नहीं है। भक्ति के ज्ञान से हीन अनधिकारी लोगों द्वारा ग्रहण किया जाने वाला तथाकथित भक्तिमार्ग भले ही सुगम हो, किन्तु जब विधि-विधानों के अनुसार दृढ़तापूर्वक इसका अभ्यास किया जाता है तो मीमांसक तथा दार्शनिक इस मार्ग से च्युत हो जाते हैं। श्रील रूप गोस्वामी अपनी कृति *भक्तिरसामृत सिन्धु* में (१.२.१०१) लिखते हैं–

श्रुति स्मृतिपुराणादि पञ्चरात्रविधिं विना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते॥

"वह भगवद्भक्ति, जो उपनिषदों, पुराणों तथा नारद पंचरात्र जैसे प्रामाणिक वैदिक ग्रंथों की अवहेलना करती है, समाज में व्यर्थ ही अव्यवस्था फैलाने वाली है।"

ब्रह्मवेत्ता निर्विशेषवादी या परमात्मावेत्ता योगी भगवान् श्रीकृष्ण को यशोदा-नन्दन या पार्थसारथी के रूप में कभी नहीं समझ सकते। कभी-कभी बड़े-बड़े देवता भी कृष्ण के विषय में भ्रमित हो जाते हैं–*मुह्यन्ति यत्सूरयः*। *मां तु वेद न कश्चन*–भगवान् कहते हैं कि कोई भी मुझे उस रूप में तत्त्वतः नहीं जानता, जैसा मैं हूँ। और यदि कोई जानता है–*स महात्मा सुदुर्लभः*–तो ऐसा महात्मा विरला होता है। अतः भगवान् की भक्ति किये बिना कोई भगवान् को तत्त्वतः नहीं जान पाता, भले ही वह महान विद्वान् या दार्शनिक

क्यों न हो। केवल शुद्ध भक्त ही कृष्ण के अचिन्त्य गुणों को सब कारणों के कारण रूप में उनकी सर्वशक्तिमत्ता तथा ऐश्वर्य, उनकी सम्पत्ति, यश, बल, सौन्दर्य, ज्ञान तथा वैराग्य के विषय में कुछ-कुछ जान सकता है, क्योंकि कृष्ण अपने भक्तों पर दयालु होते हैं। ब्रह्म-साक्षात्कार की वे पराकाष्ठा हैं और केवल भक्तगण ही उन्हें तत्त्वतः जान सकते हैं। अतएव *भक्तिरसामृत सिन्धु* में (१.२.२३४) कहा गया है—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद्ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥

"कुंठित इन्द्रियों के द्वारा कृष्ण को तत्त्वतः नहीं समझा जा सकता। किन्तु भक्तों द्वारा की गई अपनी दिव्यसेवा से प्रसन्न होकर वे भक्तों को आत्मतत्त्व प्रकाशित करते हैं।"

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥

भूमिः—पृथ्वी; **आपः**—जल; **अनलः**—अग्नि; **वायुः**—वायु; **खम्**—आकाश; **मनः**—मन; **बुद्धिः**—बुद्धि; **एव**—निश्चय ही; **च**—तथा; **अहंकारः**—अहंकार; **इति**—इस प्रकार; **इयम्**—ये सब; **मे**—मेरी; **भिन्ना**—पृथक्; **प्रकृतिः**—शक्तियाँ; **अष्टधा**—आठ प्रकार की।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—ये आठ प्रकार से विभक्त मेरी भिन्ना (अपरा) प्रकृतियाँ हैं।

तात्पर्य : ईश्वर-विज्ञान भगवान् की स्वाभाविक स्थिति तथा उनकी विविध शक्तियों का विश्लेषण करता है। भगवान् के विभिन्न पुरुष अवतारों (विस्तारों) की शक्ति को प्रकृति कहा जाता है, जैसा कि *सात्वततन्त्र* में उल्लेख मिलता है—

विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः।
एकं तु महतः स्रष्टृ द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम्।
तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते॥

"सृष्टि के लिए भगवान् कृष्ण का स्वांश तीन विष्णुओं का रूप धारण करता है। पहले महाविष्णु हैं, जो सम्पूर्ण भौतिक शक्ति महत्तत्त्व को उत्पन्न करते हैं। द्वितीय गर्भोदकशायी विष्णु हैं, जो समस्त ब्रह्माण्डों में प्रविष्ट होकर उनमें विविधता उत्पन्न करते हैं। तृतीय क्षीरोदकशायी विष्णु हैं जो समस्त ब्रह्माण्डों में सर्वव्यापी परमात्मा के रूप में फैले हुए हैं और परमात्मा कहलाते हैं। वे प्रत्येक परमाणु तक के भीतर उपस्थित हैं। जो भी इन तीनों विष्णु रूपों को जानता है, वह भवबन्धन से मुक्त हो सकता है।"

यह भौतिक जगत् भगवान् की शक्तियों में से एक का क्षणिक प्राकट्य है। इस जगत् की सारी क्रियाएँ भगवान् कृष्ण के इन तीनों विष्णु अंशों द्वारा निर्देशित हैं। ये *पुरुष* अवतार कहलाते हैं। सामान्य रूप से जो व्यक्ति ईश्वर तत्त्व (कृष्ण) को नहीं जानता, वह यह मान लेता है कि यह संसार जीवों के भोग के लिए है और सारे जीव पुरुष हैं—भौतिक शक्ति के कारण, नियन्ता तथा भोक्ता हैं। *भगवद्गीता* के अनुसार यह नास्तिक निष्कर्ष झूठा है। प्रस्तुत श्लोक में कृष्ण को इस जगत् का आदि कारण माना

गया है। *श्रीमद्भागवत* से भी इसकी पुष्टि होती है। भगवान् की पृथक्-पृथक् शक्तियाँ इस भौतिक जगत् के घटक हैं। यहाँ तक कि निर्विशेषवादियों का चरमलक्ष्य ब्रह्मज्योति भी एक आध्यात्मिक शक्ति है, जो परव्योम में प्रकट होती है। ब्रह्मज्योति में वैसी भिन्नताएँ नहीं, जैसी कि वैकुण्ठलोकों में हैं, फिर भी निर्विशेषवादी इस ब्रह्मज्योति को चरम शाश्वत लक्ष्य स्वीकार करते हैं। परमात्मा की अभिव्यक्ति भी क्षीरोदकशायी विष्णु का एक क्षणिक सर्वव्यापी पक्ष है। आध्यात्मिक जगत् में परमात्मा की अभिव्यक्ति शाश्वत नहीं होती। अतः यथार्थ परम सत्य तो श्रीभगवान् कृष्ण हैं। वे पूर्ण शक्तिमान पुरुष हैं और उनकी नाना प्रकार की भिन्ना तथा अन्तरंगा शक्तियाँ होती हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भौतिक शक्ति आठ प्रधान रूपों में व्यक्त होती है। इनमें से प्रथम पाँच—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश स्थूल अथवा विराट सृष्टियाँ कहलाती हैं, जिनमें पाँच इन्द्रियविषय, जिनके नाम हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गंध—सम्मिलित रहते हैं। भौतिक विज्ञान में ये ही दस तत्त्व हैं। किन्तु अन्य तीन तत्त्वों को, जिनके नाम मन, बुद्धि तथा अहंकार हैं, भौतिकतावादी उपेक्षित रखते हैं। दार्शनिक भी, जो मानसिक कार्यकलापों से संबंध रखते हैं, पूर्णज्ञानी नहीं हैं, क्योंकि वे परम उद्गम कृष्ण को नहीं जानते। मिथ्या अहंकार—'मैं हूँ' तथा 'यह मेरा है'—जो कि संसार का मूल कारण है इसमें विषयभोग की दस इन्द्रियों का समावेश है। बुद्धि महत्तत्त्व नामक समग्र भौतिक सृष्टि की सूचक है। अतः भगवान् की आठ विभिन्न शक्तियों से जगत् के चौबीस तत्त्व प्रकट हैं, जो नास्तिक सांख्यदर्शन के विषय हैं। ये मूलतः कृष्ण की शक्तियों की उपशाखाएँ हैं और उनसे भिन्न हैं, किन्तु नास्तिक सांख्य दार्शनिक अल्पज्ञान के कारण यह नहीं जान पाते कि कृष्ण समस्त कारणों के कारण हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है, सांख्यदर्शन की विवेचना का विषय कृष्ण की बहिरंगा शक्ति का प्राकट्य है।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥५॥

अपरा—निकृष्ट, जड़; **इयम्**—यह; **इतः**—इसके अतिरिक्त; **तु**—लेकिन; **अन्याम्**—अन्य; **प्रकृतिम्**—प्रकृति को; **विद्धि**—जानने का प्रयत्न करो; **मे**—मेरी; **पराम्**—उत्कृष्ट, चेतन; **जीव-भूताम्**—जीवों वाली; **महा-बाहो**—हे बलिष्ठ भुजाओं वाले; **यया**—जिसके द्वारा; **इदम्**—यह; **धार्यते**—प्रयुक्त किया जाता है, दोहन होता है; **जगत्**—संसार।

हे महाबाहु अर्जुन! इनके अतिरिक्त मेरी एक अन्य परा शक्ति है जो उन जीवों से युक्त है, जो इस भौतिक अपरा प्रकृति के साधनों का विदोहन कर रहे हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि जीव परमेश्वर की परा प्रकृति (शक्ति) है। अपरा शक्ति तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार जैसे विभिन्न तत्त्वों के रूप में प्रकट होती है। भौतिक प्रकृति के ये दोनों रूप—स्थूल (पृथ्वी आदि) तथा सूक्ष्म (मन आदि)—अपरा शक्ति के ही प्रतिफल हैं। जीव जो अपने विभिन्न कार्यों के लिए अपरा शक्तियों का विदोहन करता रहता है, स्वयं परमेश्वर की परा शक्ति

है और यह वही शक्ति है जिसके कारण सारा संसार कार्यशील है। इस दृश्यजगत् में कार्य करने की तब तक शक्ति नहीं आती, जब तक कि परा शक्ति अर्थात् जीव द्वारा यह गतिशील नहीं बनाया जाता। शक्ति का नियन्त्रण सदैव शक्तिमान करता है, अतः जीव सदैव भगवान् द्वारा नियन्त्रित होते हैं। जीवों का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं है। वे कभी भी सम शक्तिमान नहीं, जैसा कि बुद्धिहीन मनुष्य सोचते हैं। *श्रीमद्भागवत* में (१०.८७.३०) जीव तथा भगवान् के अन्तर को इस प्रकार बताया गया है–

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता-
स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया॥

"हे परम शाश्वत! यदि सारे देहधारी जीव आप ही की तरह शाश्वत एवं सर्वव्यापी होते तो वे आपके नियन्त्रण में न होते। किन्तु यदि जीवों को आपकी सूक्ष्म शक्ति के रूप में मान लिया जाय तब तो वे सभी आपके परम नियन्त्रण में आ जाते हैं। अतः वास्तविक मुक्ति तो आपकी शरण में जाना है और इस शरणागति से वे सुखी होंगे। उस स्वरूप में ही वे नियन्ता बन सकते हैं। अतः अल्पज्ञ पुरुष, जो अद्वैतवाद के पक्षधर हैं और इस सिद्धान्त का प्रचार करते हैं कि भगवान् और जीव सभी प्रकार से एक दूसरे के समान हैं, वास्तव में वे प्रदूषित मत द्वारा निर्देशित होते हैं।"

परमेश्वर कृष्ण ही एकमात्र नियन्ता हैं और सारे जीव उन्हीं के द्वारा नियन्त्रित हैं। सारे जीव उनकी पराशक्ति हैं, क्योंकि उनके गुण परमेश्वर के समान हैं, किन्तु वे शक्ति की मात्रा के विषय में कभी भी समान नहीं हैं। स्थूल तथा सूक्ष्म अपराशक्ति का उपभोग करते हुए पराशक्ति (जीव) को अपने वास्तविक मन तथा बुद्धि की विस्मृति हो जाती है। इस विस्मृति का कारण जीव पर जड़ प्रकृति का प्रभाव है। किन्तु जब जीव माया के बन्धन से मुक्त हो जाता है, तो उसे मुक्ति-पद प्राप्त होता है। माया के प्रभाव में आकर अहंकार सोचता है, "मैं ही पदार्थ हूँ और सारी भौतिक उपलब्धि मेरी है।" जब वह सारे भौतिक विचारों से, जिनमें भगवान् के साथ तादात्म्य भी सम्मिलित है, मुक्त हो जाता है, तो उसे वास्तविक स्थिति प्राप्त होती है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि *गीता* जीव को कृष्ण की अनेक शक्तियों में से एक मानती है और जब यह शक्ति भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाती है, तो यह पूर्णतया कृष्णभावनाभावित या बन्धन मुक्त हो जाती है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥

एतत्–ये दोनों शक्तियाँ; **योनीनि**–जिनके जन्म के स्रोत, योनियाँ; **भूतानि**–प्रत्येक सृष्ट पदार्थ; **सर्वाणि**–सारे; **इति**–इस प्रकार; **उपधारय**–जानो; **अहम्**–मैं; **कृत्स्नस्य**–सम्पूर्ण; **जगतः**–जगत का; **प्रभवः**–उत्पत्ति का कारण; **प्रलयः**–प्रलय, संहार; **तथा**–और।

सारे प्राणियों का उद्गम इन दोनों शक्तियों में है। इस जगत् में जो कुछ भी भौतिक

तथा आध्यात्मिक है, उसकी उत्पत्ति तथा प्रलय मुझे ही जानो।

तात्पर्य : जितनी वस्तुएँ विद्यमान हैं, वे पदार्थ तथा आत्मा के प्रतिफल हैं। आत्मा सृष्टि का मूल क्षेत्र है और पदार्थ आत्मा द्वारा उत्पन्न किया जाता है। भौतिक विकास की किसी भी अवस्था में आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती, अपितु यह भौतिक जगत् आध्यात्मिक शक्ति के आधार पर ही प्रकट होता है। इस भौतिक शरीर का इसलिए विकास हुआ क्योंकि इसके भीतर आत्मा उपस्थित है। एक बालक धीरे-धीरे बढ़कर कुमार तथा अन्त में युवा बन जाता है, क्योंकि उसके भीतर आत्मा उपस्थित है। इसी प्रकार इस विराट ब्रह्माण्ड की समग्र सृष्टि का विकास परमात्मा विष्णु की उपस्थिति के कारण होता है। अतः आत्मा तथा पदार्थ मूलतः भगवान् की दो शक्तियाँ हैं, जिनके संयोग से विराट ब्रह्माण्ड प्रकट होता है। अतः भगवान् ही सभी वस्तुओं के आदि कारण हैं। भगवान् का अंश रूप जीवात्मा भले ही किसी गगनचुम्बी प्रासाद या किसी महान कारखाने या किसी महानगर का निर्माता हो सकता है, किन्तु वह विराट ब्रह्माण्ड का कारण नहीं हो सकता। इस विराट ब्रह्माण्ड का स्रष्टा भी विराट आत्मा या परमात्मा है। और परमेश्वर कृष्ण विराट तथा लघु दोनों ही आत्माओं के कारण हैं। अतः वे समस्त कारणों के कारण हैं। इसकी पुष्टि *कठोपनिषद्* में (२.२.१३) हुई है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।*

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥

मत्तः—मुझसे परे; **पर-तरम्**—श्रेष्ठ; **न**—नहीं; **अन्यत् किञ्चित्**—अन्य कुछ भी; **अस्ति**—है; **धनञ्जय**—हे धन के विजेता; **मयि**—मुझमें; **सर्वम्**—सब कुछ; **इदम्**—यह जो हम देखते हैं; **प्रोतम्**—गुँथा हुआ; **सूत्रे**—धागे में; **मणि-गणाः**—मोतियों के दाने; **इव**—सदृश।

हे धनञ्जय! मुझसे श्रेष्ठ कोई सत्य नहीं है। जिस प्रकार मोती धागे में गुँथे रहते हैं, उसी प्रकार सब कुछ मुझ पर ही आश्रित है।

तात्पर्य : परम सत्य साकार है या निराकार, इस पर सामान्य विवाद चलता है। जहाँ तक *भगवद्गीता* का प्रश्न है, परम सत्य तो श्रीभगवान् श्रीकृष्ण हैं और इसकी पुष्टि पद-पद पर होती है। इस श्लोक में विशेष रूप से बल है कि परम सत्य पुरुष रूप है। इस बात की कि भगवान् ही परम सत्य हैं, *ब्रह्मसंहिता* में भी पुष्टि हुई है—*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः*—परम सत्य श्रीभगवान् कृष्ण ही हैं, जो आदि पुरुष हैं। समस्त आनन्द के आगार गोविन्द हैं और वे सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। ये सब प्रमाण निर्विवाद रूप से प्रमाणित करते हैं कि परम सत्य परम पुरुष हैं जो समस्त कारणों का कारण हैं। फिर भी निरीश्वरवादी *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में (३.१०) उपलब्ध वैदिक मन्त्र के आधार पर तर्क करते हैं—*ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयं। य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति*—"भौतिक जगत् में ब्रह्माण्ड के आदि जीव ब्रह्मा को देवताओं, मनुष्यों तथा निम्न प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। किन्तु ब्रह्मा के परे एक इन्द्रियातीत ब्रह्म है जिसका कोई भौतिक स्वरूप नहीं होता और जो समस्त भौतिक

कल्मष से रहित होता है। जो व्यक्ति उसे जान लेता है वह भी दिव्य बन जाता है, किन्तु जो उसे नहीं जान पाते, वे सांसारिक दुखों को भोगते रहते हैं।"

निर्विशेषवादी *अरूपम्* शब्द पर विशेष बल देते हैं। किन्तु यह *अरूपम्* शब्द निराकार नहीं है। यह दिव्य सच्चिदानन्द स्वरूप का सूचक है, जैसा कि *ब्रह्मसंहिता* में वर्णित है और ऊपर उद्धृत है। *श्वेताश्वतर उपनिषद्* के अन्य श्लोकों (३.८-९) से भी इसकी पुष्टि होती है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विद्वानति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो नो ज्यायोऽस्ति किञ्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥

"मैं उन भगवान् को जानता हूँ जो अंधकार की समस्त भौतिक अनुभूतियों से परे हैं। उनको जानने वाला ही जन्म तथा मृत्यु के बन्धन का उल्लंघन कर सकता है। उस परमपुरुष के इस ज्ञान के अतिरिक्त मोक्ष का कोई अन्य साधन नहीं है।"

"उन परमपुरुष से बढ़कर कोई सत्य नहीं क्योंकि वे श्रेष्ठतम हैं। वे सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर हैं और महान से भी महानतर हैं। वे मूक वृक्ष के समान स्थित हैं और दिव्य आकाश को प्रकाशित करते हैं। जिस प्रकार वृक्ष अपनी जड़ें फैलाता है, वे भी अपनी विस्तृत शक्तियों का प्रसार करते हैं।"

इन श्लोकों से निष्कर्ष निकलता है कि परम सत्य ही श्रीभगवान् हैं, जो अपनी विविध परा-अपरा शक्तियों के द्वारा सर्वव्यापी हैं।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥८॥

रसः—स्वाद; **अहम्**—मैं; **अप्सु**—जल में; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **प्रभा**—प्रकाश; **अस्मि**—हूँ; **शशि-सूर्ययोः**—चन्द्रमा तथा सूर्य का; **प्रणवः**—ओंकार के अ, उ, म—ये तीन अक्षर; **सर्व**—समस्त; **वेदेषु**—वेदों में; **शब्दः**—शब्द, ध्वनि; **खे**—आकाश में; **पौरुषम्**—शक्ति, सामर्थ्य; **नृषु**—मनुष्यों में।

हे कुन्तीपुत्र! मैं जल का स्वाद हूँ, सूर्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश हूँ, वैदिक मन्त्रों में ओंकार हूँ, आकाश में ध्वनि हूँ तथा मनुष्य में सामर्थ्य हूँ।

तात्पर्य : यह श्लोक बताता है कि भगवान् किस प्रकार अपनी विविध परा तथा अपरा शक्तियों द्वारा सर्वव्यापी हैं। परमेश्वर की प्रारम्भिक अनुभूति उनकी विभिन्न शक्तियों द्वारा हो सकती है और इस प्रकार उनका निराकार रूप में अनुभव होता है। जिस प्रकार सूर्यदेवता एक पुरुष है और अपनी सर्वव्यापी शक्ति—सूर्यप्रकाश—द्वारा अनुभव किया जाता है, उसी प्रकार भगवान् अपने धाम में रहते हुए भी अपनी सर्वव्यापी शक्तियों द्वारा अनुभव किये जाते हैं। जल का स्वाद जल का मूलभूत गुण है। कोई भी व्यक्ति समुद्र का जल नहीं पीना चाहता क्योंकि इसमें शुद्ध जल के स्वाद के साथ साथ नमक मिला रहता है। जल के प्रति आकर्षण का कारण स्वाद की शुद्धि है और यह शुद्ध स्वाद भगवान् की शक्तियों में से एक है। निर्विशेषवादी व्यक्ति जल में भगवान् की उपस्थिति

जल के स्वाद के कारण अनुभव करता है और सगुणवादी भगवान् का गुणगान करता है, क्योंकि वे प्यास बुझाने के लिए सुस्वादु जल प्रदान करते हैं। परमेश्वर को अनुभव करने की यही विधि है। व्यवहारतः सगुणवाद तथा निर्विशेषवाद में कोई मतभेद नहीं है। जो ईश्वर को जानता है वह यह भी जानता है कि प्रत्येक वस्तु में एकसाथ सगुणबोध तथा निर्गुणबोध निहित होता है और इनमें कोई विरोध नहीं है। अतः भगवान् चैतन्य ने अपना शुद्ध सिद्धान्त प्रतिपादित किया जो अचिन्त्य भेदाभेद-तत्त्व कहलाता है।

सूर्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश भी मूलतः ब्रह्मज्योति से निकलता है, जो भगवान् का निर्विशेष प्रकाश है। प्रणव या ओंकार प्रत्येक वैदिक मन्त्र के प्रारम्भ में भगवान् को सम्बोधित करने के लिए प्रयुक्त दिव्य ध्वनि है। चूँकि निर्विशेषवादी परमेश्वर कृष्ण को उनके असंख्य नामों के द्वारा पुकारने से भयभीत रहते हैं, अतः वे ओंकार का उच्चारण करते हैं, किन्तु उन्हें इसकी तनिक भी अनुभूति नहीं होती कि ओंकार कृष्ण का शब्द स्वरूप है। कृष्णभावनामृत का क्षेत्र व्यापक है और जो इस भावनामृत को जानता है वह धन्य है। जो कृष्ण को नहीं जानते वे मोहग्रस्त रहते हैं। अतः कृष्ण का ज्ञान मुक्ति है और उनके प्रति अज्ञान बन्धन है।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ ९॥

पुण्यः—मूल, आद्य; **गन्धः**—सुगंध; **पृथिव्याम्**—पृथ्वी में; **च**—भी; **तेजः**—प्रकाश; **च**—भी; **अस्मि**—हूँ; **विभावसौ**—अग्नि में; **जीवनम्**—प्राण; **सर्व**—समस्त; **भूतेषु**—जीवों में; **तपः**—तपस्या; **च**—भी; **अस्मि**—हूँ; **तपस्विषु**—तपस्वियों में।

मैं पृथ्वी की आद्य सुगंध और अग्नि की ऊष्मा हूँ। मैं समस्त जीवों का जीवन तथा तपस्वियों का तप हूँ।

तात्पर्य : *पुण्य* का अर्थ है—जिसमें विकार न हो, अतः आद्य। इस जगत् में प्रत्येक वस्तु में कोई न कोई सुगंध होती है, यथा फूल की सुगंध या जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु आदि की सुगंध। समस्त वस्तुओं में व्याप्त अदूषित भौतिक गन्ध, जो आद्य सुगंध है, वह कृष्ण हैं। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का एक विशिष्ट स्वाद (रस) होता है और इस स्वाद को रसायनों के मिश्रण द्वारा बदला जा सकता है। अतः प्रत्येक मूल वस्तु में कोई न कोई गन्ध तथा स्वाद होता है। *विभावसु* का अर्थ अग्नि है। अग्नि के बिना न तो फैक्टरी चल सकती है, न भोजन पक सकता है। यह अग्नि कृष्ण है। अग्नि का तेज (ऊष्मा) भी कृष्ण ही है। वैदिक चिकित्सा के अनुसार कुपच का कारण पेट में अग्नि की मंदता है। अतः पाचन तक के लिए अग्नि आवश्यक है। कृष्णभावनामृत में हम इस बात से अवगत होते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा प्रत्येक सक्रिय तत्त्व, सारे रसायन तथा सारे भौतिक तत्त्व कृष्ण के कारण हैं। मनुष्य की आयु भी कृष्ण के कारण है। अतः कृष्ण की कृपा से ही मनुष्य अपने को दीर्घायु या अल्पजीवी बना सकता है। अतः कृष्णभावनामृत प्रत्येक क्षेत्र में सक्रिय रहता है।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ १०॥

बीजम्—बीज; **माम्**—मुझको; **सर्व-भूतानाम्**—समस्त जीवों का; **विद्धि**—जानने का प्रयास करो; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **सनातनम्**—आदि, शाश्वत; **बुद्धिः**—बुद्धि; **बुद्धि-मताम्**—बुद्धिमानों की; **अस्मि**—हूँ; **तेजः**—तेज; **तेजस्विनाम्**—तेजस्वियों का; **अहम्**—मैं।

हे पृथापुत्र! यह जान लो कि मैं ही समस्त जीवों का आदि बीज हूँ, बुद्धिमानों की बुद्धि तथा समस्त तेजस्वी पुरुषों का तेज हूँ।

तात्पर्य : कृष्ण समस्त पदार्थों के बीज हैं। कई प्रकार के चर तथा अचर जीव हैं। पक्षी, पशु, मनुष्य तथा अन्य सजीव प्राणी चर हैं, पेड़ पौधे अचर हैं—वे चल नहीं सकते, केवल खड़े रहते हैं। प्रत्येक जीव चौरासी लाख योनियों के अन्तर्गत है, जिनमें से कुछ चर हैं और कुछ अचर। किन्तु इन सबके जीवन के बीजस्वरूप श्रीकृष्ण हैं। जैसा कि वैदिक साहित्य में कहा गया है ब्रह्म या परम सत्य वह है जिससे प्रत्येक वस्तु उद्भूत है। कृष्ण परब्रह्म या परमात्मा हैं। ब्रह्म तो निर्विशेष है, किन्तु परब्रह्म साकार है। निर्विशेष ब्रह्म साकार रूप में आधारित है—यह *भगवद्गीता* में कहा गया है। अतः आदि रूप में कृष्ण समस्त वस्तुओं के उद्गम हैं। वे मूल हैं। जिस प्रकार मूल सारे वृक्ष का पालन करता है उसी प्रकार कृष्ण मूल होने के कारण इस जगत् के समस्त प्राणियों का पालन करते हैं। इसकी पुष्टि वैदिक साहित्य में (*कठोपनिषद्* २.२.१३) हुई है—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्
एको बहूनां यो विदधाति कामान्

वे समस्त नित्यों के नित्य हैं। वे समस्त जीवों के परम जीव हैं और वे ही समस्त जीवों का पालन करने वाले हैं। मनुष्य बुद्धि के बिना कुछ नहीं कर सकता और कृष्ण भी कहते हैं कि मैं ही समस्त बुद्धि का मूल हूँ। जब तक मनुष्य बुद्धिमान नहीं होता, वह भगवान् कृष्ण को नहीं समझ सकता।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ ११॥

बलम्—शक्ति; **बल-वताम्**—बलवानों का; **च**—तथा; **अहम्**—मैं हूँ; **काम**—विषयभोग; **राग**—तथा आसक्ति से; **विवर्जितम्**—रहित; **धर्म-अविरुद्धः**—जो धर्म के विरुद्ध नहीं है; **भूतेषु**—समस्त जीवों में; **कामः**—विषयी जीवन; **अस्मि**—हूँ; **भरत-ऋषभ**—हे भारतवंशियों में श्रेष्ठ!

मैं बलवानों का कामनाओं तथा इच्छा से रहित बल हूँ। हे भरतश्रेष्ठ (अर्जुन)! मैं वह काम हूँ, जो धर्म के विरुद्ध नहीं है।

तात्पर्य : बलवान पुरुष की शक्ति का उपयोग दुर्बलों की रक्षा के लिए होना चाहिए, व्यक्तिगत आक्रमण के लिए नहीं। इसी प्रकार धर्म-सम्मत मैथुन सन्तानोत्पत्ति के लिए होना चाहिए, अन्य कार्यों के लिए नहीं। अतः माता-पिता का उत्तरदायित्व है कि वे अपनी सन्तान को कृष्णभावनाभावित बनाएँ।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥१२॥

ये—जो; **च**—तथा; **एव**—निश्चय ही; **सात्त्विकाः**—सतोगुणी; **भावाः**—भाव; **राजसाः**—रजोगुणी; **तामसाः**—तमोगुणी; **च**—भी; **ये**—जो; **मत्तः**—मुझसे; **एव**—निश्चय ही; **इति**—इस प्रकार; **तान्**—उनको; **विद्धि**—जानो; **न**—नहीं; **तु**—लेकिन; **अहम्**—मैं; **तेषु**—उनमें; **ते**—वे; **मयि**—मुझमें।

तुम जान लो कि मेरी शक्ति द्वारा सारे गुण प्रकट होते हैं, चाहे वे सतोगुण हों, रजोगुण हों या तमोगुण हों। एक प्रकार से मैं सब कुछ हूँ, किन्तु हूँ स्वतन्त्र। मैं प्रकृति के गुणों के अधीन नहीं हूँ, अपितु वे मेरे अधीन हैं।

तात्पर्य : संसार के सारे भौतिक कार्यकलाप प्रकृति के गुणों के अधीन सम्पन्न होते हैं। यद्यपि प्रकृति के गुण परमेश्वर कृष्ण से उद्भूत हैं, किन्तु भगवान् उनके अधीन नहीं होते। उदाहरणार्थ, राज्य के नियमानुसार कोई दण्डित हो सकता है, किन्तु नियम बनाने वाला राजा उस नियम के अधीन नहीं होता। इसी तरह प्रकृति के सभी गुण—सतो, रजो तथा तमोगुण—भगवान् कृष्ण से उद्भूत हैं, किन्तु कृष्ण प्रकृति के अधीन नहीं हैं। इसीलिए वे *निर्गुण* हैं, जिसका तात्पर्य है कि सभी गुण उनसे उद्भूत हैं, किन्तु ये उन्हें प्रभावित नहीं करते। यह भगवान् का विशेष लक्षण है।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥१३॥

त्रिभिः—तीन; **गुण-मयैः**—गुणों से युक्त; **भावैः**—भावों के द्वारा; **एभिः**—इन; **सर्वम्**—सम्पूर्ण; **इदम्**—यह; **जगत्**—ब्रह्माण्ड; **मोहितम्**—मोहग्रस्त; **न अभिजानाति**—नहीं जानता; **माम्**—मुझको; **एभ्यः**—इनसे; **परम्**—परम; **अव्ययम्**—अव्यय, सनातन।

तीन गुणों (सतो, रजो तथा तमो) के द्वारा मोहग्रस्त यह सारा संसार मुझ गुणातीत तथा अविनाशी को नहीं जानता।

तात्पर्य : सारा संसार प्रकृति के तीन गुणों से मोहित है। जो लोग इस प्रकार से तीन गुणों के द्वारा मोहित हैं, वे नहीं जान सकते कि परमेश्वर कृष्ण इस प्रकृति से परे हैं।

प्रत्येक जीव को प्रकृति के वशीभूत होकर एक विशेष प्रकार का शरीर मिलता है और तदनुसार उसे एक विशेष मनोवैज्ञानिक (मानसिक) तथा शारीरिक कार्य करना होता है। प्रकृति के तीन गुणों के अन्तर्गत कार्य करने वाले मनुष्यों की चार श्रेणियाँ हैं। जो नितान्त सतोगुणी हैं वे ब्राह्मण, जो रजोगुणी हैं वे *क्षत्रिय* और जो रजोगुणी एवं तमोगुणी दोनों हैं, वे वैश्य कहलाते हैं तथा जो नितान्त तमोगुणी हैं वे शूद्र कहलाते हैं। जो इनसे भी नीचे हैं वे पशु हैं। फिर ये उपाधियाँ स्थायी नहीं हैं। मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या कुछ भी हो सकता हूँ। जो भी हो यह जीवन नश्वर है। यद्यपि यह जीवन नश्वर है और हम नहीं जान पाते कि अगले जीवन में हम क्या होंगे, किन्तु माया के वश में रहकर हम अपने आपको देहात्मबुद्धि के द्वारा अमरीकी, भारतीय, रूसी या ब्राह्मण, हिन्दू, मुसलमान आदि कहकर सोचते हैं। और यदि हम प्रकृति के गुणों में बँध जाते हैं तो

हम उस भगवान् को भूल जाते हैं जो इन गुणों के मूल में है। अतः भगवान् का कहना है कि सारे जीव प्रकृति के इन गुणों द्वारा मोहित होकर यह नहीं समझ पाते कि इस संसार की पृष्ठभूमि में भगवान् हैं।

जीव कई प्रकार के हैं—यथा मनुष्य, देवता, पशु आदि; और इनमें से हर एक प्रकृति के वश में है और ये सभी दिव्यपुरुष भगवान् को भूल चुके हैं। जो रजोगुणी तथा तमोगुणी हैं, यहाँ तक कि जो सतोगुणी भी हैं वे भी परम सत्य के निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप से आगे नहीं बढ़ पाते। वे सब भगवान् के साक्षात् स्वरूप के समक्ष संभ्रमित हो जाते हैं, जिसमें सारा सौंदर्य, ऐश्वर्य, ज्ञान, बल, यश तथा त्याग भरा है। जब सतोगुणी तक इस स्वरूप को नहीं समझ पाते तो उनसे क्या आशा की जाये जो रजोगुणी या तमोगुणी हैं? कृष्णभावनामृत प्रकृति के इन तीनों गुणों से परे है और जो लोग निस्सन्देह कृष्णभावनामृत में स्थित हैं, वे ही वास्तव में मुक्त हैं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥१४॥

दैवी—दिव्य; **हि**—निश्चय ही; **एषा**—यह; **गुण-मयी**—तीनों गुणों से युक्त; **मम**—मेरी; **माया**—शक्ति; **दुरत्यया**—पार कर पाना कठिन, दुस्तर; **माम्**—मुझे; **एव**—निश्चय ही; **ये**—जो; **प्रपद्यन्ते**—शरण ग्रहण करते हैं; **मायाम् एताम्**—इस माया के; **तरन्ति**—पार कर जाते हैं; **ते**—वे।

प्रकृति के तीन गुणों वाली इस मेरी दैवी शक्ति को पार कर पाना कठिन है। किन्तु जो मेरे शरणागत हो जाते हैं, वे सरलता से इसे पार कर जाते हैं।

तात्पर्य : भगवान् की शक्तियाँ अनन्त हैं और ये सारी शक्तियाँ दैवी हैं। यद्यपि जीवात्माएँ उनकी शक्तियों के अंश हैं, अतः दैवी हैं, किन्तु भौतिक शक्ति के सम्पर्क में रहने से उनकी परा शक्ति आच्छादित रहती है। इस प्रकार भौतिक शक्ति से आच्छादित होने के कारण मनुष्य उसके प्रभाव का अतिक्रमण नहीं कर पाता। जैसा कि पहले कहा जा चुका है परा तथा अपरा शक्तियाँ भगवान् से उद्भूत होने के कारण नित्य हैं। जीव भगवान् की परा शक्ति से सम्बन्धित होते हैं, किन्तु अपरा शक्ति अर्थात् पदार्थ के द्वारा दूषित होने से उनका मोह भी नित्य होता है। अतः बद्धजीव नित्यबद्ध है। कोई भी उसके बद्ध होने की तिथि को नहीं बता सकता। फलस्वरूप प्रकृति के चंगुल से उसका छूट पाना अत्यन्त कठिन है, भले ही प्रकृति अपराशक्ति क्यों न हो क्योंकि भौतिक शक्ति परमेच्छा द्वारा संचालित होती है, जिसे लाँघ पाना जीव के लिए कठिन है। यहाँ पर अपरा भौतिक प्रकृति को दैवीप्रकृति कहा गया है क्योंकि इसका सम्बन्ध दैवी है तथा इसका चालन दैवी इच्छा से होता है। दैवी इच्छा से संचालित होने के कारण भौतिक प्रकृति अपरा होते हुए भी दृश्यजगत् के निर्माण तथा विनाश में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। वेदों में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—*मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्*—यद्यपि माया मिथ्या या नश्वर है, किन्तु माया की पृष्ठभूमि में परम जादूगर भगवान् हैं, जो परम नियन्ता महेश्वर हैं (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ४.१०)।

गुण का दूसरा अर्थ रस्सी (रज्जु) है। इससे यह समझना चाहिए कि बद्धजीव मोह

रूपी रस्सी से जकड़ा हुआ है। यदि मनुष्य के हाथ-पैर बाँध दिये जायें तो वह अपने को छुड़ा नहीं सकता—उसकी सहायता के लिए कोई ऐसा व्यक्ति चाहिए जो बँधा न हो। चूँकि एक बँधा हुआ व्यक्ति दूसरे बँधे व्यक्ति की सहायता नहीं कर सकता, अतः रक्षक को मुक्त होना चाहिए। अतः केवल कृष्ण या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि गुरु ही बद्धजीव को छुड़ा सकते हैं। बिना ऐसी उत्कृष्ट सहायता के भवबन्धन से छुटकारा नहीं मिल सकता। भक्ति या कृष्णभावनामृत इस प्रकार के छुटकारे में सहायक हो सकता है। कृष्ण माया के अधीश्वर होने के नाते इस दुर्लंघ्य शक्ति को आदेश दे सकते हैं कि बद्धजीव को छोड़ दे। वे शरणागत जीव पर अहैतुकी कृपा तथा वात्सल्यवश ही जीव को मुक्त किये जाने का आदेश देते हैं, क्योंकि जीव मूलतः भगवान् का प्रिय पुत्र है। अतः निष्ठुर माया के बंधन से मुक्त होने का एकमात्र साधन है, भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करना।

मामेव पद भी अत्यन्त सार्थक है। *माम्* का अर्थ है एकमात्र कृष्ण (विष्णु) को, ब्रह्मा या शिव को नहीं। यद्यपि ब्रह्मा तथा शिव भी अत्यन्त महान हैं और प्रायः विष्णु के ही समान हैं, किन्तु ऐसे रजोगुण तथा तमोगुण के अवतारों के लिए सम्भव नहीं कि वे बद्धजीव को माया के चंगुल से छुड़ा सकें। दूसरे शब्दों में, ब्रह्मा तथा शिव दोनों ही माया के वश में रहते हैं। केवल विष्णु माया के स्वामी हैं, अतः वे ही बद्धजीव को मुक्त कर सकते हैं। वेदों में (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ३.८) इसकी पुष्टि *तमेव विदित्वा* के द्वारा हुई है जिसका अर्थ है, कृष्ण को जान लेने पर ही मुक्ति सम्भव है। शिवजी भी पुष्टि करते हैं कि केवल विष्णु-कृपा से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है—*मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः*—अर्थात् इसमें सन्देह नहीं कि विष्णु ही सबों के मुक्तिदाता हैं।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

न—नहीं; **माम्**—मेरी; **दुष्कृतिनः**—दुष्ट; **मूढाः**—मूर्ख; **प्रपद्यन्ते**—शरण ग्रहण करते हैं; **नर-अधमाः**—मनुष्यों में अधम; **मायया**—माया के द्वारा; **अपहृत**—चुराये गये; **ज्ञानाः**—ज्ञान वाले; **आसुरम्**—आसुरी; **भावम्**—प्रकृति या स्वभाव को; **आश्रिताः**—स्वीकार किये हुए।

जो निपट मूर्ख हैं, जो मनुष्यों में अधम हैं, जिनका ज्ञान माया द्वारा हर लिया गया है तथा जो असुरों की नास्तिक प्रकृति को धारण करने वाले हैं, ऐसे दुष्ट मेरी शरण ग्रहण नहीं करते।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में यह कहा गया है कि श्रीभगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने से मनुष्य प्रकृति के कठोर नियमों को लाँघ सकता है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि तो फिर विद्वान् दार्शनिक, वैज्ञानिक, व्यापारी, शासक तथा जनता के नेता सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों की शरण क्यों नहीं ग्रहण करते? बड़े-बड़े जननेता विभिन्न विधियों से विभिन्न योजनाएँ बनाकर अत्यन्त धैर्यपूर्वक जन्म-जन्मान्तर तक प्रकृति के नियमों से मुक्ति की खोज करते हैं। किन्तु यदि वही मुक्ति भगवान् के

चरणकमलों की शरण ग्रहण करने मात्र से सम्भव हो तो ये बुद्धिमान तथा श्रमशील मनुष्य इस सरल विधि को क्यों नहीं अपनाते?

गीता इसका उत्तर अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में देती है। समाज के वास्तविक विद्वान् नेता यथा ब्रह्मा, शिव, कपिल, कुमारगण, मनु, व्यास, देवल, असित, जनक, प्रह्लाद, बलि तथा उनके पश्चात् मध्वाचार्य, रामानुजाचार्य, श्रीचैतन्य तथा बहुत से अन्य श्रद्धावान दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, शिक्षक, विज्ञानी आदि हैं जो सर्वशक्तिमान परमपुरुष के चरणों में शरण लेते हैं। किन्तु जो लोग वास्तविक दार्शनिक, विज्ञानी, शिक्षक, प्रशासक आदि नहीं हैं, किन्तु भौतिक लाभ के लिए ऐसा बनते हैं, वे परमेश्वर की योजना या पथ को स्वीकार नहीं करते। उन्हें ईश्वर का कोई ज्ञान नहीं होता; वे अपनी सांसारिक योजनाएँ बनाते हैं और संसार की समस्याओं को हल करने के अपने व्यर्थ प्रयासों के द्वारा स्थिति को और जटिल बना लेते हैं। चूँकि भौतिक शक्ति इतनी बलवती है, इसलिए वह नास्तिकों की अवैध योजनाओं का प्रतिरोध करती है और योजना आयोगों के ज्ञान को ध्वस्त कर देती है।

नास्तिक योजना-निर्माताओं को यहाँ पर *दुष्कृतिनः* कहा गया है जिसका अर्थ है, दुष्टजन। *कृती* का अर्थ पुण्यात्मा होता है। नास्तिक योजना-निर्माता कभी-कभी अत्यन्त बुद्धिमान और प्रतिभाशाली भी होता है, क्योंकि किसी भी विराट योजना के लिए, चाहे वह अच्छी हो या बुरी, बुद्धि की आवश्यकता होती है। लेकिन नास्तिक की बुद्धि का प्रयोग परमेश्वर की योजना का विरोध करने में होता है, इसीलिए नास्तिक योजना-निर्माता दुष्कृती कहलाता है, जिससे सूचित होता है कि उसकी बुद्धि तथा प्रयास उल्टी दिशा की ओर होते हैं।

गीता में यह स्पष्ट कहा गया है कि भौतिक शक्ति परमेश्वर के पूर्ण निर्देशन में कार्य करती है। उसका कोई स्वतन्त्र प्रभुत्व नहीं है। जिस प्रकार छाया पदार्थ का अनुसरण करती है, उसी प्रकार यह शक्ति भी कार्य करती है। तो भी यह भौतिक शक्ति अत्यन्त प्रबल है और नास्तिक अपने अनीश्वरवादी स्वभाव के कारण यह नहीं जान सकता कि यह किस तरह कार्य करती है, न ही वह परमेश्वर की योजना को जान सकता है। मोह तथा रजो एवं तमो गुणों में रहकर उसकी सारी योजनाएँ उसी प्रकार ध्वस्त हो जाती हैं, जिस प्रकार भौतिक दृष्टि से विद्वान्, वैज्ञानिक, दार्शनिक, शासक तथा शिक्षक होते हुए भी हिरण्यकशिपु तथा रावण की सारी योजनाएँ ध्वस्त हो गई थीं। ये दुष्कृती या दुष्ट चार प्रकार के होते हैं जिनका वर्णन नीचे दिया जाता है—

(१) *मूढ़*—वे जो कठिन श्रम करने वाले भारवाही पशुओं की भाँति निपट मूर्ख होते हैं। वे अपने श्रम का लाभ स्वयं उठाना चाहते हैं, अतः वे भगवान् को उसे अर्पित करना नहीं चाहते। भारवाही पशु का उपयुक्त उदाहरण गधा है। इस पशु से उसका स्वामी अत्यधिक कार्य लेता है। गधा यह नहीं जानता कि वह अहर्निश किसके लिए काम करता है। वह घास से पेट भर कर संतुष्ट रहता है, अपने स्वामी से मार खाने के भय से केवल कुछ घंटे सोता है और गधी से बार-बार लात खाने के भय के बावजूद भी अपनी कामतृप्ति पूरी करता है। कभी-कभी गधा कविता करता है और दर्शन बघारता है, किन्तु उसके रेंकने से लोगों की शान्ति भंग होती है। ऐसी ही दशा उन

सकाम-कर्मियों की है जो यह नहीं जानते कि वे किसके लिए कर्म करते हैं। वे यह नहीं जानते कि कर्म यज्ञ के लिए है।

ऐसे लोग जो अपने द्वारा उत्पन्न कर्मों के भार से दबे रहते हैं प्रायः यह कहते सुने जाते हैं कि उनके पास अवकाश कहाँ कि वे जीव की अमरता के विषय में सुनें। ऐसे मूढ़ों के लिए नश्वर भौतिक लाभ ही जीवन का सब कुछ होता है भले ही वे अपने श्रम फल के एक अंश का ही उपभोग कर सकें। कभी-कभी वे लाभ के लिए रातदिन नहीं सोते, भले ही उनके आमाशय में व्रण हो जाय या अपच हो जाय, वे बिना खाये ही संतुष्ट रहते हैं, वे मायामय स्वामियों के लाभ हेतु अहर्निश काम में व्यस्त रहते हैं। अपने असली स्वामी से अनभिज्ञ रहकर ये मूर्ख कर्मी माया की सेवा में व्यर्थ ही अपना समय गँवाते हैं। दुर्भाग्य तो यह है कि वे कभी भी स्वामियों के परम स्वामी की शरण में नहीं जाते, न ही वे सही व्यक्ति से उसके विषय में सुनने में कोई समय लगाते हैं। जो सूकर विष्ठा खाता है वह चीनी तथा घी से बनी मिठाइयों की परवाह नहीं करता। उसी प्रकार मूर्ख कर्मी इस नश्वर जगत् की इन्द्रियों को सुख देने वाले समाचारों को निरन्तर सुनता रहता है, किन्तु संसार को गतिशील बनाने वाली शाश्वत जीवित शक्ति (प्राण) के विषय में सुनने में तनिक भी समय नहीं लगाता।

(२) दूसरे प्रकार का दुष्कृती *नराधम* अर्थात् अधम व्यक्ति कहलाता है। नर का अर्थ है, मनुष्य और अधम का अर्थ है, सब से नीच। चौरासी लाख जीव योनियों में से चार लाख मानव योनियाँ हैं। इनमें से अनेक निम्न मानव योनियाँ हैं, जिनमें से अधिकांश असंस्कृत हैं। सभ्य मानव योनियाँ वे हैं जिनके पास सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक नियम हैं। जो मनुष्य सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से उन्नत हैं, किन्तु जिनका कोई धर्म नहीं होता वे नराधम माने जाते हैं। धर्म ईश्वरविहीन नहीं होता क्योंकि धर्म का प्रयोजन परम सत्य को तथा उसके साथ मनुष्य के सम्बन्ध को जानना है। *गीता* में भगवान् स्पष्टतः कहते हैं कि उनसे परे कोई भी नहीं और वे ही परम सत्य हैं। मनुष्य-जीवन का सुसंस्कृत रूप सर्वशक्तिमान परम सत्य श्रीभगवान् कृष्ण के साथ मनुष्य की विस्मृतभावना को जागृत करने के लिए मिला है। जो इस सुअवसर को हाथ से जाने देता है वही नराधम है। शास्त्रों से पता चलता है कि जब बालक माँ के गर्भ में अत्यन्त असहाय रहता है, तो वह अपने उद्धार के लिए प्रार्थना करता है और वचन देता है कि गर्भ से बाहर आते ही वह केवल भगवान् की पूजा करेगा। संकट के समय ईश्वर का स्मरण प्रत्येक जीव का स्वभाव है, क्योंकि वह ईश्वर के साथ सदा से सम्बन्धित रहता है। किन्तु उद्धार के बाद बालक जन्म-पीड़ा को और उसी के साथ अपने उद्धारक को भी भूल जाता है, क्योंकि वह माया के वशीभूत हो जाता है।

यह तो बालकों के अभिभावकों का कर्तव्य है कि वे उनमें सुप्त दिव्य भावनामृत को जागृत करें। वर्णाश्रम पद्धति में मनुस्मृति के अनुसार ईशभावनामृत को जागृत करने के उद्देश्य से दस शुद्धि-संस्कारों का विधान है, जो धर्म का पथ-प्रदर्शन करते हैं। किन्तु अब विश्व के किसी भाग में किसी भी विधि का दृढ़तापूर्वक पालन नहीं होता और फलस्वरूप ९९.९% जनसंख्या नराधम है।

जब सारी जनसंख्या नराधम हो जाती है तो स्वाभाविक है कि उनकी सारी

तथाकथित शिक्षा भौतिक प्रकृति की सर्वसमर्थ शक्ति द्वारा व्यर्थ कर दी जाती है। *गीता* के अनुसार विद्वान् पुरुष वही है जो एक ब्राह्मण, कुत्ता, गाय, हाथी तथा चांडाल को समान दृष्टि से देखता है। असली भक्त की भी ऐसी ही दृष्टि होती है। गुरु रूप ईश्वर के अवतार श्री नित्यानन्द प्रभु ने दो भाइयों जगाई तथा माधाई नामक विशिष्ट नराधमों का उद्धार किया और यह दिखला दिया कि किस प्रकार शुद्ध भक्त नराधमों पर दया करता है। अतः जो नराधम भगवान् द्वारा बहिष्कृत किया जाता है, वह केवल भक्त की अनुकम्पा से पुनः अपना आध्यात्मिक भावनामृत प्राप्त कर सकता है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने *भागवत-धर्म* का प्रवर्तन करते हुए संस्तुति की है कि लोग विनीत भाव से भगवान् के सन्देश को सुनें। इस सन्देश का सार *भगवद्गीता* है। विनीत भाव से श्रवण करने मात्र से अधम से अधम मनुष्यों का उद्धार हो सकता है, किन्तु दुर्भाग्यवश वे इस सन्देश को सुनना तक नहीं चाहते—परमेश्वर की इच्छा के प्रति समर्पण करना तो दूर रहा। ये नराधम मनुष्य के प्रधान कर्तव्य की डटकर उपेक्षा करते हैं।

(३) दुष्कृतियों की तीसरी श्रेणी *माययापहृतज्ञानाः* की है अर्थात् ऐसे व्यक्तियों की जिनका प्रकाण्ड ज्ञान माया के प्रभाव से शून्य हो चुका है। ये अधिकांशतः बुद्धिमान व्यक्ति होते हैं—यथा महान दार्शनिक, कवि, साहित्यकार, वैज्ञानिक आदि, किन्तु माया इन्हें भ्रान्त कर देती है, जिसके कारण ये परमेश्वर की अवज्ञा करते हैं।

इस समय *माययापहृतज्ञानाः* की बहुत बड़ी संख्या है, यहाँ तक कि वे *भगवद्गीता* के विद्वानों के मध्य भी हैं। *गीता* में अत्यन्त सीधी सरल भाषा में कहा गया है कि श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं। न तो कोई उनके तुल्य है, न ही उनसे बड़ा। वे समस्त मनुष्यों के आदि पिता ब्रह्मा के भी पिता बताये गये हैं। वास्तव में वे ब्रह्मा के ही नहीं, अपितु समस्त जीवयोनियों के भी पिता हैं। वे निराकार ब्रह्म तथा परमात्मा के मूल हैं और जीवात्मा में स्थित परमात्मा उनका अंश है। वे सबके उत्स हैं और सबों को सलाह दी जाती है कि उनके चरणकमलों के शरणागत बनें। इन सब कथनों के बावजूद ये *माययापहृतज्ञानाः* भगवान् का उपहास करते हैं और उन्हें एक सामान्य मनुष्य मानते हैं। वे यह नहीं जानते कि भाग्यशाली मानव जीवन श्रीभगवान् के दिव्य शाश्वत स्वरूप के अनुरूप ही रचा गया है।

गीता की ऐसी सारी अवैध व्याख्याएँ जो *माययापहृतज्ञानाः* वर्ग के लोगों द्वारा की गई हैं और परम्परा पद्धति से हटकर हैं, आध्यात्मिक जानकारी के पथ में रोड़े का कार्य करती हैं। मायाग्रस्त व्याख्याकार न तो स्वयं भगवान् कृष्ण के चरणों की शरण में जाते हैं और न अन्यों को इस सिद्धान्त का पालन करने के लिए शिक्षा देते हैं।

(४) दुष्कृतियों की चौथी श्रेणी *आसुरं भावमाश्रिताः* अर्थात् आसुरी सिद्धान्त वालों की है। यह श्रेणी खुले रूप से नास्तिक होती है। इनमें से कुछ तर्क करते हैं कि परमेश्वर कभी भी इस संसार में अवतरित नहीं हो सकता, किन्तु वे इसका कोई ठोस प्रमाण नहीं बता पाते कि ऐसा क्यों नहीं हो सकता। कुछ ऐसे हैं जो परमेश्वर को निर्विशेष रूप के अधीन मानते हैं, यद्यपि *गीता* में इसका उल्टा बताया गया है। नास्तिक श्रीभगवान् के द्वेषवश अपनी बुद्धि से कल्पित अनेक अवैध अवतारों को प्रस्तुत करते हैं। ऐसे लोग जिनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य भगवान् को नकारना है, श्रीकृष्ण के चरणकमलों के

कभी शरणागत नहीं हो सकते।

दक्षिण भारत के श्रीयामुनाचार्य अल्बन्दरु ने कहा है "हे प्रभु! आप उन लोगों द्वारा नहीं जाने जाते जो नास्तिक सिद्धान्तों में लगे हैं, भले ही आप विलक्षण गुण, रूप तथा लीला से युक्त हैं, सभी शास्त्रों ने आपका विशुद्ध सत्त्वमय विग्रह प्रमाणित किया है तथा दैवी गुणसम्पन्न दिव्यज्ञान के आचार्य भी आपको मानते हैं।"

अतएव (१) मूढ़ (२) नराधम (३) माययापहृतज्ञानी अर्थात् भ्रमित मनोधर्मी, तथा (४) नास्तिक—ये चार प्रकार के दुष्कृती कभी भी भगवान् के चरणकमलों की शरण में नहीं जाते, भले ही सारे शास्त्र तथा आचार्य ऐसा उपदेश क्यों न देते रहें।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥१६॥

चतुः विधाः—चार प्रकार के; **भजन्ते**—सेवा करते हैं; **माम्**—मेरी; **जनाः**—व्यक्ति; **सु-कृतिनः**—पुण्यात्मा; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **आर्तः**—विपदाग्रस्त, पीड़ित; **जिज्ञासुः**—ज्ञान के जिज्ञासु; **अर्थ-अर्थी**—लाभ की इच्छा रखने वाले; **ज्ञानी**—वस्तुओं को सही रूप में जानने वाले, तत्त्वज्ञ; **च**—भी; **भरत-ऋषभ**—हे भरतश्रेष्ठ।

हे भरतश्रेष्ठ! चार प्रकार के पुण्यात्मा मेरी सेवा करते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी।

तात्पर्य : दुष्कृती के सर्वथा विपरीत ऐसे लोग हैं जो शास्त्रीय विधि-विधानों का दृढ़ता से पालन करते हैं और ये *सुकृतिनः* कहलाते हैं अर्थात् ये वे लोग हैं जो शास्त्रीय विधि-विधानों, नैतिक तथा सामाजिक नियमों को मानते हैं और परमेश्वर के प्रति न्यूनाधिक भक्ति करते हैं। इन लोगों की चार श्रेणियाँ हैं—वे जो पीड़ित हैं, वे जिन्हें धन की आवश्यकता है, वे जिन्हें जिज्ञासा है और वे जिन्हें परम सत्य का ज्ञान है। ये सारे लोग विभिन्न परिस्थितियों में परमेश्वर की भक्ति करते रहते हैं। ये शुद्ध भक्त नहीं हैं, क्योंकि ये भक्ति के बदले कुछ महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति करना चाहते हैं। शुद्ध भक्ति निष्काम होती है और उसमें किसी लाभ की आकांक्षा नहीं रहती। *भक्तिरसामृत सिन्धु* में (१.१.११) शुद्ध भक्ति की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

"मनुष्य को चाहिए कि परमेश्वर कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति किसी सकामकर्म अथवा मनोधर्म द्वारा भौतिक लाभ की इच्छा से रहित होकर करे। यही शुद्धभक्ति कहलाती है।"

जब ये चार प्रकार के लोग परमेश्वर के पास भक्ति के लिए आते हैं और शुद्ध भक्त की संगति से पूर्णतया शुद्ध हो जाते हैं, तो ये भी शुद्ध भक्त हो जाते हैं। जहाँ तक दुष्टों (दुष्कृतियों) का प्रश्न है उनके लिए भक्ति दुर्गम है क्योंकि उनका जीवन स्वार्थपूर्ण, अनियमित तथा निरुद्देश्य होता है। किन्तु इनमें से भी कुछ लोग शुद्ध भक्त के सम्पर्क में आने पर शुद्ध भक्त बन जाते हैं।

जो लोग सदैव सकाम कर्मों में व्यस्त रहते हैं, वे संकट के समय भगवान् के पास आते हैं और तब वे शुद्धभक्तों की संगति करते हैं तथा विपत्ति में भगवान् के भक्त बन जाते हैं। जो बिल्कुल हताश हैं वे भी कभी-कभी शुद्ध भक्तों की संगति करने आते हैं और ईश्वर के विषय में जानने की जिज्ञासा करते हैं। इसी प्रकार शुष्क चिन्तक जब ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र से हताश हो जाते हैं तो वे भी कभी-कभी ईश्वर को जानना चाहते हैं और वे भगवान् की भक्ति करने आते हैं। इस प्रकार ये निराकार ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा के ज्ञान को पार कर जाते हैं और भगवत्कृपा से या उनके शुद्ध भक्त की कृपा से उन्हें साकार भगवान् का बोध हो जाता है। कुल मिलाकर जब आर्त, जिज्ञासु, ज्ञानी तथा धन की इच्छा रखने वाले समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो जाते हैं और जब वे यह भलीभाँति समझ जाते हैं कि भौतिक आसक्ति से आध्यात्मिक उन्नति का कोई सरोकार नहीं है, तो वे शुद्धभक्त बन जाते हैं। जब तक ऐसी शुद्ध अवस्था प्राप्त नहीं हो लेती, तब तक भगवान् की दिव्यसेवा में लगे भक्त सकाम कर्मों में या संसारी ज्ञान की खोज में अनुरक्त रहते हैं। अतः शुद्ध भक्ति की अवस्था तक पहुँचने के लिए मनुष्य को इन सबों को लाँघना होता है।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ १७॥

तेषाम्–उनमें से; **ज्ञानी**–ज्ञानवान; **नित्य-युक्तः**–सदैव तत्पर; **एक**–एकमात्र; **भक्तिः**–भक्ति में; **विशिष्यते**–विशिष्ट है; **प्रियः**–अतिशय प्रिय; **हि**–निश्चय ही; **ज्ञानिनः**–ज्ञानवान का; **अत्यर्थम्**–अत्यधिक; **अहम्**–मैं हूँ; **सः**–वह; **च**–भी; **मम**–मेरा; **प्रियः**–प्रिय।

इनमें से जो परमज्ञानी है और शुद्धभक्ति में लगा रहता है वह सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि मैं उसे अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे प्रिय है।

तात्पर्य : भौतिक इच्छाओं के समस्त कल्मष से मुक्त आर्त, जिज्ञासु, धनहीन तथा ज्ञानी ये सब शुद्धभक्त बन सकते हैं। किन्तु इनमें से जो परम सत्य का ज्ञानी है और भौतिक इच्छाओं से मुक्त होता है वही भगवान् का शुद्धभक्त हो पाता है। इन चार वर्गों में से जो भक्त ज्ञानी है और साथ ही भक्ति में लगा रहता है, वह भगवान् के कथनानुसार सर्वश्रेष्ठ है। ज्ञान की खोज करते रहने से मनुष्य को अनुभूति होती है कि उसका आत्मा उसके भौतिक शरीर से भिन्न है। अधिक उन्नति करने पर उसे निर्विशेष ब्रह्म तथा परमात्मा का ज्ञान होता है। जब वह पूर्णतया शुद्ध हो जाता है तो उसे ईश्वर के नित्य दास के रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति की अनुभूति होती है। इस प्रकार शुद्ध भक्त की संगति से आर्त, जिज्ञासु, धन का इच्छुक तथा ज्ञानी स्वयं शुद्ध हो जाते हैं। किन्तु प्रारम्भिक अवस्था में जिस व्यक्ति को परमेश्वर का पूर्णज्ञान होता है और साथ ही जो उनकी भक्ति करता रहता है, वह व्यक्ति भगवान् को अत्यन्त प्रिय होता है। जिसे भगवान् की दिव्यता का शुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है, वह भक्ति द्वारा इस तरह सुरक्षित रहता है कि भौतिक कल्मष उसे छू भी नहीं पाते।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ १८॥

उदाराः—विशाल हृदय वाले; **सर्वे**—सभी; **एव**—निश्चय ही; **एते**—ये; **ज्ञानी**—ज्ञानवाला; **तु**—लेकिन; **आत्मा एव**—मेरे समान ही; **मे**—मेरे; **मतम्**—मत में; **आस्थितः**—स्थित; सः—वह; **हि**—निश्चय ही; **युक्त-आत्मा**—भक्ति में तत्पर; **माम्**—मुझ; एव—निश्चय ही; **अनुत्तमाम्**—परम, सर्वोच्च; **गतिम्**—लक्ष्य को।

निस्सन्देह ये सब उदारचेता व्यक्ति हैं, किन्तु जो मेरे ज्ञान को प्राप्त है, उसे मैं अपने ही समान मानता हूँ। वह मेरी दिव्यसेवा में तत्पर रहकर मुझ सर्वोच्च उद्देश्य को निश्चित रूप से प्राप्त करता है।

तात्पर्य : ऐसा नहीं है कि जो कम ज्ञानी भक्त हैं वे भगवान् को प्रिय नहीं हैं। भगवान् कहते हैं कि सभी उदारचेता हैं क्योंकि चाहे जो भी भगवान् के पास किसी भी उद्देश्य से आये वह महात्मा कहलाता है। जो भक्त भक्ति के बदले कुछ लाभ चाहते हैं उन्हें भगवान् स्वीकार करते हैं क्योंकि इससे स्नेह का विनिमय होता है। वे स्नेहवश भगवान् से लाभ की याचना करते हैं और जब उन्हें वह प्राप्त हो जाता है तो वे इतने प्रसन्न होते हैं कि वे भी भगवद्भक्ति करने लगते हैं। किन्तु ज्ञानी भक्त भगवान् को इसलिए प्रिय है कि उसका उद्देश्य प्रेम तथा भक्ति से परमेश्वर की सेवा करना होता है। ऐसा भक्त भगवान् की सेवा किये बिना क्षण भर भी नहीं रह सकता। इसी प्रकार परमेश्वर अपने भक्त को बहुत चाहते हैं और वे उससे विलग नहीं हो पाते।

श्रीमद्भागवत में (९.४.६८) भगवान् कहते हैं—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

"भक्तगण सदैव मेरे हृदय में वास करते हैं और मैं भक्तों के हृदयों में वास करता हूँ। भक्त मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता और मैं भी भक्त को कभी नहीं भूलता। मेरे तथा शुद्ध भक्तों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। ज्ञानी शुद्धभक्त कभी भी आध्यात्मिक सम्पर्क से दूर नहीं होते, अतः वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।"

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ १९॥

बहूनाम्—अनेक; **जन्मनाम्**—जन्म तथा मृत्यु के चक्र के; **अन्ते**—अन्त में; **ज्ञान-वान्**—ज्ञानी; **माम्**—मेरी; **प्रपद्यते**—शरण ग्रहण करता है; **वासुदेवः**—भगवान् कृष्ण; **सर्वम्**—सब कुछ; **इति**—इस प्रकार; **सः**—ऐसा; **महा-आत्मा**—महात्मा; **सु-दुर्लभः**—अत्यन्त दुर्लभ है।

अनेक जन्म-जन्मान्तर के बाद जिसे सचमुच ज्ञान होता है, वह मुझको समस्त कारणों का कारण जानकर मेरी शरण में आता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।

तात्पर्य : भक्ति या दिव्य अनुष्ठानों को करता हुआ जीव अनेक जन्मों के पश्चात् इस

दिव्यज्ञान को प्राप्त कर सकता है कि आत्म-साक्षात्कार का चरम लक्ष्य श्रीभगवान् हैं। आत्म-साक्षात्कार के प्रारम्भ में जब मनुष्य भौतिकता का परित्याग करने का प्रयत्न करता है तब निर्विशेषवाद की ओर उसका झुकाव हो सकता है, किन्तु आगे बढ़ने पर वह यह समझ पाता है कि आध्यात्मिक जीवन में भी कार्य हैं और इन्हीं से भक्ति का विधान होता है। इसकी अनुभूति होने पर वह भगवान् के प्रति आसक्त हो जाता है और उनकी शरण ग्रहण कर लेता है। इस अवसर पर वह समझ सकता है कि श्रीकृष्ण की कृपा ही सर्वस्व है, वे ही सब कारणों के कारण हैं और यह जगत् उनसे स्वतन्त्र नहीं है। वह इस भौतिक जगत् को आध्यात्मिक विविधताओं का विकृत प्रतिबिम्ब मानता है और अनुभव करता है कि प्रत्येक वस्तु का परमेश्वर कृष्ण से सम्बन्ध है। इस प्रकार वह प्रत्येक वस्तु को वासुदेव श्रीकृष्ण से सम्बन्धित समझता है। इस प्रकार की वासुदेवमयी व्यापक दृष्टि होने पर भगवान् कृष्ण को परमलक्ष्य मानकर शरणागति प्राप्त होती है। ऐसे शरणागत महात्मा दुर्लभ हैं।

इस श्लोक की सुन्दर व्याख्या *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में (३.१४-१५) मिलती है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यातिष्ठद् दशांगुलम्॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो　　यदन्नेनातिरोहति॥

छान्दोग्य उपनिषद् (५.१.१५) में कहा गया है—*न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसीत्याचक्षते प्राण इति एवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवन्ति*—जीव के शरीर की बोलने की शक्ति, देखने की शक्ति, सुनने की शक्ति, सोचने की शक्ति ही प्रधान नहीं है। समस्त कार्यों का केन्द्रबिन्दु तो यह जीवन (प्राण) है। इसी प्रकार भगवान् वासुदेव या भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त पदार्थों में मूल सत्ता हैं। इस देह में बोलने, देखने, सुनने तथा सोचने आदि की शक्तियाँ हैं, किन्तु यदि वे भगवान् से सम्बन्धित न हों तो सभी व्यर्थ हैं। वासुदेव सर्वव्यापी हैं और प्रत्येक वस्तु वासुदेव है। अतः भक्त पूर्ण ज्ञान में रहकर शरण ग्रहण करता है (तुलनार्थ *भगवद्गीता* ७.१७ तथा ११.४०)।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ २०॥

कामैः—इच्छाओं द्वारा; **तैः तैः**—उन उन; **हृत**—विहीन; **ज्ञानाः**—ज्ञान से; **प्रपद्यन्ते**—शरण लेते हैं; **अन्य**—अन्य; **देवताः**—देवताओं की; **तम् तम्**—उस उस; **नियमम्**—विधान का; **आस्थाय**—पालन करते हुए; **प्रकृत्या**—स्वभाव से; **नियताः**—वश में हुए; **स्वया**—अपने आप।

जिनकी बुद्धि भौतिक इच्छाओं द्वारा मारी गई है, वे देवताओं की शरण में जाते हैं और वे अपने-अपने स्वभाव के अनुसार पूजा के विशेष विधि-विधानों का पालन करते हैं।

तात्पर्य : जो समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त हो चुके हैं, वे भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं और उनकी भक्ति में तत्पर होते हैं। जब तक भौतिक कल्मष धुल नहीं जाता, तब

तक वे स्वभावतः अभक्त रहते हैं। किन्तु जो भौतिक इच्छाओं के होते हुए भी भगवान् की ओर उन्मुख होते हैं, वे बहिरंगा प्रकृति द्वारा आकृष्ट नहीं होते। चूँकि वे सही उद्देश्य की ओर अग्रसर होते हैं, अतः वे शीघ्र ही सारी भौतिक कामेच्छाओं से मुक्त हो जाते हैं। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि मनुष्य को चाहिए कि स्वयं को वासुदेव के प्रति समर्पित करे और उनकी पूजा करे, चाहे वह भौतिक इच्छाओं से रहित हो या भौतिक इच्छाओं से पूरित हो या भौतिक कल्मष से मुक्ति चाहता हो। जैसा कि *भागवत* में (२.३.१०) कहा गया है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

जो अल्पज्ञ हैं तथा जिन्होंने अपनी आध्यात्मिक चेतना खो दी है, वे भौतिक इच्छाओं की अविलम्ब पूर्ति के लिए देवताओं की शरण में जाते हैं। सामान्यतः ऐसे लोग भगवान् की शरण में नहीं जाते क्योंकि वे निम्नतर गुणों वाले (रजो तथा तमोगुणी) होते हैं, अतः वे विभिन्न देवताओं की पूजा करते हैं। वे पूजा के विधि-विधानों का पालन करने में ही प्रसन्न रहते हैं। देवताओं के पूजक छोटी-छोटी इच्छाओं के द्वारा प्रेरित होते हैं और यह नहीं जानते कि परमलक्ष्य तक किस प्रकार पहुँचा जाय। किन्तु भगवद्भक्त कभी भी पथभ्रष्ट नहीं होता। चूँकि वैदिक साहित्य में विभिन्न उद्देश्यों के लिए भिन्न-भिन्न देवताओं के पूजन का विधान है, अतः जो भगवद्भक्त नहीं हैं वे सोचते हैं कि देवता कुछ कार्यों के लिए भगवान् से श्रेष्ठ हैं। किन्तु शुद्धभक्त जानता है कि भगवान् कृष्ण ही सबके स्वामी हैं। *चैतन्यचरितामृत* में (आदि ५.१४२) कहा गया है—*एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य*—केवल भगवान् कृष्ण ही स्वामी हैं और अन्य सब दास हैं। फलतः शुद्धभक्त कभी भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देवताओं के निकट नहीं जाता। वह तो परमेश्वर पर निर्भर रहता है और वे जो कुछ देते हैं, उसी से संतुष्ट रहता है।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ २१॥

यः यः—जो जो; **याम् याम्**—जिस जिस; **तनुम्**—देवता के रूप को; **भक्तः**—भक्त; **श्रद्धया**—श्रद्धा से; **अर्चितुम्**—पूजा करने के लिए; **इच्छति**—इच्छा करता है; **तस्य तस्य**—उस उसकी; **अचलाम्**—स्थिर; **श्रद्धाम्**—श्रद्धा को; **ताम्**—उस; **एव**—निश्चय ही; **विदधामि**—देता हूँ; **अहम्**—मैं।

मैं प्रत्येक जीव के हृदय में परमात्मा स्वरूप स्थित हूँ। जैसे ही कोई किसी देवता की पूजा करने की इच्छा करता है, मैं उसकी श्रद्धा को स्थिर करता हूँ, जिससे वह उसी विशेष देवता की भक्ति कर सके।

तात्पर्य : ईश्वर ने हर एक को स्वतन्त्रता प्रदान की है, अतः यदि कोई पुरुष भौतिक भोग करने का इच्छुक है और इसके लिए देवताओं से सुविधाएँ चाहता है तो प्रत्येक हृदय में परमात्मा स्वरूप स्थित भगवान् उसके मनोभावों को जानकर ऐसी सुविधाएँ प्रदान करते हैं। समस्त जीवों के परम पिता के रूप में वे उनकी स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं

करते, अपितु उन्हें सुविधाएँ प्रदान करते हैं, जिससे वे अपनी भौतिक इच्छाएँ पूरी कर सकें। कुछ लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि सर्वशक्तिमान ईश्वर जीवों को ऐसी सुविधाएँ प्रदान करके उन्हें माया के पाश में गिरने ही क्यों देते हैं? इसका उत्तर यह है कि यदि परमेश्वर उन्हें ऐसी सुविधाएँ प्रदान न करें तो फिर स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाता। अतः वे सबों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं—चाहे कोई कुछ करे—किन्तु उनका अन्तिम उपदेश हमें *भगवद्गीता* में प्राप्त होता है—मनुष्य को चाहिए कि अन्य सारे कार्यों को त्यागकर उनकी शरण में आए। इससे मनुष्य सुखी रहेगा।

जीवात्मा तथा देवता दोनों ही परमेश्वर की इच्छा के अधीन हैं, अतः जीवात्मा न तो स्वेच्छा से किसी देवता की पूजा कर सकता है, न ही देवता परमेश्वर की इच्छा के विरुद्ध कोई वर दे सकते हैं जैसी कि कहावत है—'ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ती भी नहीं हिलती।' सामान्यतः जो लोग इस संसार में पीड़ित हैं, वे देवताओं के पास जाते हैं, क्योंकि वेदों में ऐसा करने का उपदेश है कि अमुक-अमुक इच्छाओं वाले को अमुक-अमुक देवताओं की शरण में जाना चाहिए। उदारहणार्थ, एक रोगी को सूर्यदेव की पूजा करने का आदेश है। इसी प्रकार विद्या का इच्छुक सरस्वती की पूजा कर सकता है और सुन्दर पत्नी चाहने वाला व्यक्ति शिवजी की पत्नी देवी उमा की पूजा कर सकता है। इस प्रकार शास्त्रों में विभिन्न देवताओं के पूजन की विधियाँ बताई गई हैं। चूँकि प्रत्येक जीव विशेष सुविधा चाहता है, अतः भगवान् उसे विशेष देवता से उस वर को प्राप्त करने की प्रबल इच्छा की प्रेरणा देते हैं और उसे वर प्राप्त हो जाता है। किसी विशेष देवता के पूजन की विधि भी भगवान् द्वारा ही नियोजित की जाती है। जीवों में वह प्रेरणा देवता नहीं दे सकते, किन्तु भगवान् परमात्मा हैं जो समस्त जीवों के हृदयों में उपस्थित रहते हैं, अतः कृष्ण मनुष्य को किसी देवता के पूजन की प्रेरणा प्रदान करते हैं। सारे देवता परमेश्वर के विराट शरीर के विभिन्न अंगस्वरूप हैं, अतः वे स्वतन्त्र नहीं होते। वैदिक साहित्य में कथन है, "परमात्मा रूप में भगवान् देवता के हृदय में भी स्थित रहते हैं, अतः वे देवता के माध्यम से जीव की इच्छा को पूरा करने की व्यवस्था करते हैं। किन्तु जीव तथा देवता दोनों ही परमात्मा की इच्छा पर आश्रित हैं। वे स्वतन्त्र नहीं हैं।"

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥ २२॥

सः—वह; **तया**—उस; **श्रद्धया**—श्रद्धा से; **युक्तः**—युक्त; **तस्य**—उस देवता की; **आराधनम्**—पूजा के लिए; **ईहते**—आकांक्षा करता है; **लभते**—प्राप्त करता है; **च**—तथा; **ततः**—उससे; **कामान्**—इच्छाओं को; **मया**—मेरे द्वारा; **एव**—ही; **विहितान्**—व्यवस्थित; **हि**—निश्चय ही; **तान्**—उन।

ऐसी श्रद्धा से समन्वित वह देवता विशेष की पूजा करने का यत्न करता है और अपनी इच्छा की पूर्ति करता है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि ये सारे लाभ केवल मेरे द्वारा प्रदत्त हैं।

तात्पर्य : देवतागण परमेश्वर की अनुमति के बिना अपने भक्तों को वर नहीं दे सकते।

जीव भले ही यह भूल जाय कि प्रत्येक वस्तु परमेश्वर की सम्पत्ति है, किन्तु देवता इसे नहीं भूलते। अतः देवताओं की पूजा तथा वांछित फल की प्राप्ति देवताओं के कारण नहीं, अपितु उनके माध्यम से भगवान् के कारण होती है। अल्पज्ञानी जीव इसे नहीं जानते, अतः वे मूर्खतावश देवताओं के पास जाते हैं। किन्तु शुद्धभक्त आवश्यकता पड़ने पर परमेश्वर से ही याचना करता है परन्तु वर माँगना शुद्धभक्त का लक्षण नहीं है। जीव सामान्यतया देवताओं के पास इसीलिए जाता है, क्योंकि वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए पगलाया रहता है। ऐसा तब होता है जब जीव अनुचित कामना करता है जिसे स्वयं भगवान् पूरा नहीं करते। *चैतन्यचरितामृत* में कहा गया है कि जो व्यक्ति परमेश्वर की पूजा के साथ-साथ भौतिकभोग की कामना करता है वह परस्पर विरोधी इच्छाओं वाला होता है। परमेश्वर की भक्ति तथा देवताओं की पूजा समान स्तर पर नहीं हो सकती, क्योंकि देवताओं की पूजा भौतिक है और परमेश्वर की भक्ति नितान्त आध्यात्मिक है।

जो जीव भगवद्धाम जाने का इच्छुक है, उसके मार्ग में भौतिक इच्छाएँ बाधक हैं। अतः भगवान् के शुद्धभक्त को वे भौतिक लाभ नहीं प्रदान किये जाते, जिनकी कामना अल्पज्ञ जीव करते रहते हैं, जिसके कारण वे परमेश्वर की भक्ति न करके देवताओं की पूजा में लगे रहते हैं।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ २३॥

अन्त-वत्—नाशवान; **तु**—लेकिन; **फलम्**—फल; **तेषाम्**—उनका; **तत्**—वह; **भवति**—होता है; **अल्प-मेधसाम्**—अल्पज्ञों का; **देवान्**—देवताओं के पास; **देव-यजः**—देवताओं को पूजने वाले; **यान्ति**—जाते हैं; **मत्**—मेरे; **भक्ताः**—भक्तगण; **यान्ति**—जाते हैं; **माम्**—मेरे पास; **अपि**—भी।

अल्पबुद्धि वाले व्यक्ति देवताओं की पूजा करते हैं और उन्हें प्राप्त होने वाले फल सीमित तथा क्षणिक होते हैं। देवताओं की पूजा करने वाले देवलोक को जाते हैं, किन्तु मेरे भक्त अन्ततः मेरे परमधाम को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के कुछ भाष्यकार कहते हैं कि देवता की पूजा करने वाला व्यक्ति परमेश्वर के पास पहुँच सकता है, किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि देवताओं के उपासक भिन्न लोक को जाते हैं, जहाँ विभिन्न देवता स्थित हैं—ठीक उसी प्रकार जिस तरह सूर्य की उपासना करने वाला सूर्य को या चन्द्रमा का उपासक चन्द्रमा को प्राप्त होता है। इसी प्रकार यदि कोई इन्द्र जैसे देवता की पूजा करना चाहता है, तो उसे पूजे जाने वाले उसी देवता का लोक प्राप्त होगा। ऐसा नहीं है कि जिस किसी भी देवता की पूजा करने से भगवान् को प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ पर इसका निषेध किया गया है, क्योंकि यह स्पष्ट कहा गया है कि देवताओं के उपासक भौतिक जगत् के अन्य लोकों को जाते हैं, किन्तु भगवान् का भक्त भगवान् के ही परमधाम को जाता है।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि विभिन्न देवता परमेश्वर के शरीर के विभिन्न अंग हैं, तो उन सबकी पूजा करने से एक ही जैसा फल मिलना चाहिए। किन्तु

देवताओं के उपासक अल्पज्ञ होते हैं, क्योंकि वे यह नहीं जानते कि शरीर के किस अंग को भोजन दिया जाय। उनमें से कुछ इतने मूर्ख होते हैं कि वे यह दावा करते हैं कि अंग अनेक हैं, अतः भोजन देने के ढंग अनेक हैं। किन्तु यह बहुत उचित नहीं है। क्या कोई कानों या आँखों से शरीर को भोजन पहुँचा सकता है? वे यह नहीं जानते कि ये देवता भगवान् के विराट शरीर के विभिन्न अंग हैं और वे अपने अज्ञानवश यह विश्वास कर बैठते हैं कि प्रत्येक देवता पृथक् ईश्वर है तथा परमेश्वर का प्रतियोगी है।

न केवल सारे देवता, अपितु सामान्य जीव भी परमेश्वर के अंग (अंश) हैं। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि ब्राह्मण परमेश्वर के सिर हैं, क्षत्रिय उनकी बाहें हैं, वैश्य उनकी कटि तथा शूद्र उनके पाँव हैं, और इन सबके अलग-अलग कार्य हैं। यदि कोई देवताओं को तथा अपने आपको परमेश्वर का अंश मानता है तो उसका ज्ञान पूर्ण है। किन्तु यदि वह इसे नहीं समझता तो उसे भिन्न लोकों की प्राप्ति होती है, जहाँ देवतागण निवास करते हैं। यह वह गन्तव्य नहीं है, जहाँ भक्तगण जाते हैं।

देवताओं से प्राप्त वर नाशवान होते हैं, क्योंकि इस भौतिक जगत् के भीतर सारे लोक, सारे देवता तथा उनके सारे उपासक नाशवान हैं। अतः इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि ऐसे देवताओं की उपासना से प्राप्त होने वाले सारे फल नाशवान होते हैं, अतः ऐसी पूजा केवल अल्पज्ञों द्वारा की जाती है। चूँकि परमेश्वर की भक्ति में कृष्णभावनामृत में संलग्न व्यक्ति ज्ञान से पूर्ण दिव्य आनन्दमय लोक की प्राप्ति करता है अतः उसकी तथा देवताओं के सामान्य उपासक की उपलब्धियाँ पृथक्-पृथक् होती हैं। परमेश्वर असीम हैं, उनका अनुग्रह अनन्त है, उनकी दया भी अनन्त है। अतः परमेश्वर की अपने शुद्धभक्तों पर कृपा भी असीम होती है।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ २४॥

अव्यक्तम्—अप्रकट; **व्यक्तिम्**—स्वरूप को; **आपन्नम्**—प्राप्त हुआ; **मन्यन्ते**—सोचते हैं; **माम्**—मुझको; **अबुद्धयः**—अल्पज्ञानी व्यक्ति; **परम्**—परम; **भावम्**—सत्ता; **अजानन्तः**—बिना जाने; **मम**—मेरा; **अव्ययम्**—अनश्वर; **अनुत्तमम्**—सर्वश्रेष्ठ।

बुद्धिहीन मनुष्य मुझको ठीक से न जानने के कारण सोचते हैं कि मैं (भगवान् कृष्ण) पहले निराकार था और अब मैंने इस स्वरूप को धारण किया है। वे अपने अल्पज्ञान के कारण मेरी अविनाशी तथा सर्वोच्च प्रकृति को नहीं जान पाते।

तात्पर्य : देवताओं के उपासकों को अल्पज्ञ कहा जा चुका है और इस श्लोक में निर्विशेषवादियों को भी अल्पज्ञ कहा गया है। भगवान् कृष्ण अपने साकार रूप में यहाँ पर अर्जुन से बातें कर रहे हैं, किन्तु तब भी निर्विशेषवादी अपने अज्ञान के कारण तर्क करते रहते हैं कि परमेश्वर का अन्ततः कोई स्वरूप नहीं होता। श्रीरामानुजाचार्य की परम्परा के महान भगवद्भक्त यामुनाचार्य ने इस सम्बन्ध में दो अत्यन्त उपयुक्त श्लोक कहे हैं (*स्तोत्र रत्न* १२)—

त्वां शीलरूपचरितैः परमप्रकृष्टैः
सत्त्वेन सात्त्विकतया प्रबलैश्च शास्त्रैः।
प्रख्यातदैवपरमार्थविदां मतैश्च
नैवासुरप्रकृतयः प्रभवन्ति बोद्धुम्॥

"हे प्रभु! व्यासदेव तथा नारद जैसे भक्त आपको भगवान् रूप में जानते हैं। मनुष्य विभिन्न वैदिक ग्रंथों को पढ़कर आपके गुण, रूप तथा कार्यों को जान सकता है और इस तरह आपको भगवान् के रूप में समझ सकता है। किन्तु जो लोग रजो तथा तमोगुण के वश में हैं, ऐसे असुर तथा अभक्तगण आपको नहीं समझ पाते। ऐसे अभक्त वेदान्त, उपनिषद् तथा वैदिक ग्रंथों की व्याख्या करने में कितने ही निपुण क्यों न हों, वे भगवान् को नहीं समझ पाते।"

ब्रह्मसंहिता में यह बताया गया है कि केवल वेदान्त साहित्य के अध्ययन से भगवान् को नहीं समझा जा सकता। परमपुरुष को केवल भगवत्कृपा से जाना जा सकता है। अतः इस श्लोक में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि न केवल देवताओं के उपासक अल्पज्ञ होते हैं, अपितु वे अभक्त भी जो कृष्णभावनामृत से रहित हैं, जो वेदान्त तथा वैदिक साहित्य के अध्ययन में लगे रहते हैं, अल्पज्ञ हैं और उनके लिए ईश्वर के साकार रूप को समझ पाना सम्भव नहीं है। जो लोग परम सत्य को निर्विशेष करके मानते हैं वे *अबुद्धयः* बताये गये हैं जिसका अर्थ है, वे लोग जो परम सत्य के परम स्वरूप को नहीं समझते। *श्रीमद्भागवत* में बताया गया है कि निर्विशेष ब्रह्म से ही परम अनुभूति प्रारम्भ होती है जो ऊपर उठती हुई अन्तर्यामी परमात्मा तक जाती है, किन्तु परम सत्य की अन्तिम अवस्था तो भगवान् है। आधुनिक निर्विशेषवादी तो और भी अधिक अल्पज्ञ हैं, क्योंकि वे अपने पूर्वगामी शंकराचार्य का भी अनुसरण नहीं करते जिन्होंने स्पष्ट बताया है कि कृष्ण परमेश्वर हैं। अतः निर्विशेषवादी परम सत्य को न जानने के कारण सोचते हैं कि कृष्ण देवकी तथा वसुदेव के पुत्र हैं या कि राजकुमार हैं या कि शक्तिमान जीवात्मा हैं। *भगवद्गीता* में (९.११) भी इसकी भर्त्सना की गई है। *अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्*—केवल मूर्ख ही मुझे सामान्य पुरुष मानते हैं।

तथ्य तो यह है कि कोई बिना भक्ति के तथा कृष्णभावनामृत विकसित किये बिना कृष्ण को नहीं समझ सकता। इसकी पुष्टि *भागवत* में (१०.१४.२९) हुई है—

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय प्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन् महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥

"हे प्रभु! यदि कोई आपके चरणकमलों की रंचमात्र भी कृपा प्राप्त कर लेता है तो वह आपकी महानता को समझ सकता है। किन्तु जो लोग भगवान् को समझने के लिए मानसिक कल्पना करते हैं वे वेदों का वर्षों तक अध्ययन करके भी नहीं समझ पाते।" कोई न तो मनोधर्म द्वारा, न ही वैदिक साहित्य की व्याख्या द्वारा भगवान् कृष्ण या उनके रूप को समझ सकता है। भक्ति के द्वारा ही उन्हें समझा जा सकता है। जब मनुष्य *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—इस महानतम जप से प्रारम्भ करके कृष्णभावनामृत में पूर्णतया तन्मय हो जाता है, तभी वह भगवान् को समझ सकता है। अभक्त निर्विशेषवादी मानते हैं कि भगवान् कृष्ण का शरीर इसी

भौतिक प्रकृति का बना है और उनके कार्य, उनका रूप इत्यादि सभी माया हैं। ये निर्विशेषवादी मायावादी कहलाते हैं। ये परम सत्य को नहीं जानते।

बीसवें श्लोक में स्पष्ट है—*कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः*—जो लोग कामेच्छाओं से अन्धे हैं वे अन्य देवताओं की शरण में जाते हैं। यह स्वीकार किया गया है कि भगवान् के अतिरिक्त अन्य देवता भी हैं, जिनके अपने-अपने लोक हैं और भगवान् का भी अपना लोक है। जैसा कि तेईसवें श्लोक में कहा गया है—*देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि*—देवताओं के उपासक उनके लोकों को जाते हैं और जो कृष्ण के भक्त हैं वे कृष्णलोक को जाते हैं। यद्यपि यह स्पष्ट कहा गया है, किन्तु तो भी मूर्ख मायावादी यह मानते हैं कि भगवान् निर्विशेष हैं और ये विभिन्न रूप उन पर ऊपर से थोपे गये हैं। क्या *गीता* के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि देवता तथा उनके धाम निर्विशेष हैं? स्पष्ट है कि न तो देवतागण, न ही कृष्ण निर्विशेष हैं। वे सभी व्यक्ति हैं। भगवान् कृष्ण परमेश्वर हैं, उनका अपना लोक है और देवताओं के भी अपने-अपने लोक हैं।

अतः यह अद्वैतवादी तर्क कि परम सत्य निर्विशेष है और रूप ऊपर से थोपा (आरोपित) हुआ है, सत्य नहीं उतरता। यहाँ स्पष्ट बताया गया है कि यह ऊपर से थोपा हुआ नहीं है। *भगवद्गीता* से हम स्पष्टतया समझ सकते हैं कि देवताओं के रूप तथा परमेश्वर का स्वरूप साथ-साथ विद्यमान हैं और भगवान् कृष्ण सच्चिदानन्द रूप हैं। वेद भी पुष्टि करते हैं कि *परम सत्य आनन्दमयोऽभ्यासात्*—अर्थात् वे स्वभाव से ही आनन्दमय हैं और वे अनन्त शुभ गुणों के आगार हैं। *गीता* में भगवान् कहते हैं कि यद्यपि वे अज (अजन्मा) हैं, तो भी वे प्रकट होते हैं। *भगवद्गीता* से हम इन सारे तथ्यों को जान सकते हैं। अतः हम यह नहीं समझ पाते कि भगवान् किस तरह निर्विशेष हैं? जहाँ तक *गीता* के कथन हैं, उनके अनुसार निर्विशेषवादी अद्वैतवादियों का यह आरोपित सिद्धान्त मिथ्या है। यहाँ यह स्पष्ट है कि परम सत्य भगवान् कृष्ण के रूप और व्यक्तित्व दोनों हैं।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ २५॥

न—न तो; **अहम्**—मैं; **प्रकाशः**—प्रकट; **सर्वस्य**—सबों के लिए; **योग-माया**—अन्तरंगा शक्ति से; **समावृतः**—आच्छादित; **मूढः**—मूर्ख; **अयम्**—यह; **न**—नहीं; **अभिजानाति**—समझ सकता है; **लोकः**—लोग; **माम्**—मुझको; **अजम्**—अजन्मा को; **अव्ययम्**—अविनाशी को।

मैं मूर्खों तथा अल्पज्ञों के लिए कभी भी प्रकट नहीं हूँ। उनके लिए तो मैं अपनी अन्तरंगा शक्ति द्वारा आच्छादित रहता हूँ, अतः वे यह नहीं जान पाते कि मैं अजन्मा तथा अविनाशी हूँ।

तात्पर्य : यह तर्क दिया जा सकता है कि जब कृष्ण इस पृथ्वी पर विद्यमान थे और सबों के लिए दृश्य थे तो अब वे सबों के समक्ष क्यों नहीं प्रकट होते? किन्तु वास्तव में वे हर एक के समक्ष प्रकट नहीं थे। जब कृष्ण विद्यमान थे तो उन्हें भगवान् रूप में समझने

वाले व्यक्ति थोड़े ही थे। जब कुरु सभा में शिशुपाल ने कृष्ण के सभाध्यक्ष चुने जाने का विरोध किया तो भीष्म ने कृष्ण के नाम का समर्थन किया और उन्हें परमेश्वर घोषित किया। इसी प्रकार पाण्डव तथा कुछ अन्य लोग उन्हें परमेश्वर के रूप में जानते थे, किन्तु सभी ऐसे नहीं थे। अभक्तों तथा सामान्य व्यक्ति के लिए वे प्रकट नहीं थे। इसीलिए *भगवद्गीता* में कृष्ण कहते हैं कि उनके विशुद्ध भक्तों के अतिरिक्त अन्य सारे लोग उन्हें अपनी तरह समझते हैं। वे अपने भक्तों के समक्ष ही आनन्द के आगार के रूप में प्रकट होते थे, किन्तु अन्यों के लिए, अल्पज्ञ अभक्तों के लिए, वे अपनी अन्तरंगा शक्ति से आच्छादित रहते थे।

श्रीमद्भागवत में (१.८.१९) कुन्ती ने अपनी प्रार्थना में कहा है कि भगवान् योगमाया के आवरण से आवृत हैं, अतः सामान्य लोग उन्हें समझ नहीं पाते। *ईशोपनिषद्* में (मन्त्र १५) भी इस योगमाया आवरण की पुष्टि हुई है, जिसमें भक्त प्रार्थना करता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

"हे भगवान्! आप समग्र ब्रह्माण्ड के पालक हैं और आपकी भक्ति सर्वोच्च धर्म है। अतः मेरी प्रार्थना है कि आप मेरा भी पालन करें। आपका दिव्यरूप योगमाया से आवृत है। ब्रह्मज्योति आपकी अन्तरंगा शक्ति का आवरण है। कृपया इस तेज को हटा लें क्योंकि यह आपके सच्चिदानन्द विग्रह के दर्शन में बाधक है।" भगवान् अपने दिव्य सच्चिदानन्द रूप में ब्रह्मज्योति की अन्तरंगाशक्ति से आवृत हैं, जिसके फलस्वरूप अल्पज्ञानी निर्विशेषवादी परमेश्वर को नहीं देख पाते।

श्रीमद्भागवत में भी (१०.१४.७) ब्रह्मा द्वारा की गई यह स्तुति है—"हे भगवान्, हे परमात्मा, हे समस्त रहस्यों के स्वामी! संसार में ऐसा कौन है जो आपकी शक्ति तथा लीलाओं का अनुमान लगा सके? आप सदैव अपनी अन्तरंगाशक्ति का विस्तार करते रहते हैं, अतः कोई भी आपको नहीं समझ सकता। विज्ञानी तथा विद्वान् भले ही भौतिक जगत् की परमाणु संरचना का या कि विभिन्न ग्रहों का अन्वेषण कर लें, किन्तु अपने समक्ष आपके विद्यमान होते हुए भी वे आपकी शक्ति की गणना करने में असमर्थ हैं।" भगवान् कृष्ण न केवल अजन्मा हैं, अपितु अव्यय भी हैं। वे सच्चिदानन्द रूप हैं और उनकी शक्तियाँ अव्यय हैं।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ २६॥

वेद—जानता हूँ; **अहम्**—मैं; **समतीतानि**—भूतकाल को; **वर्तमानानि**—वर्तमान को; **च**—तथा; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **भविष्याणि**—भविष्य को; **च**—भी; **भूतानि**—सारे जीवों को; **माम्**—मुझको; **तु**—लेकिन; **वेद**—जानता है; **न**—नहीं; **कश्चन**—कोई।

हे अर्जुन! श्रीभगवान् होने के नाते मैं जो कुछ भूतकाल में घटित हो चुका है, जो वर्तमान में घटित हो रहा है और जो आगे होने वाला है, वह सब कुछ जानता हूँ।

मैं समस्त जीवों को भी जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई नहीं जानता।

तात्पर्य : यहाँ पर साकारता तथा निराकारता का स्पष्ट उल्लेख है। यदि भगवान् कृष्ण का स्वरूप माया होता, जैसा कि मायावादी मानते हैं, तो उन्हें भी जीवात्मा की भाँति अपना शरीर बदलना पड़ता और विगत जीवन के विषय में सब कुछ विस्मरण हो जाता। कोई भी भौतिक देहधारी अपने विगत जीवन की स्मृति बनाये नहीं रख पाता, न ही वह भावी जीवन के विषय में या वर्तमान जीवन की उपलब्धि के विषय में भविष्यवाणी कर सकता है। अतः वह यह नहीं जानता कि भूत, वर्तमान तथा भविष्य में क्या घट रहा है। भौतिक कल्मष से मुक्त हुए बिना वह ऐसा नहीं कर सकता।

सामान्य मनुष्यों से भिन्न, भगवान् कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि वे यह भलीभाँति जानते हैं कि भूतकाल में क्या घटा, वर्तमान में क्या हो रहा है और भविष्य में क्या होने वाला है लेकिन सामान्य मनुष्य ऐसा नहीं जानते हैं। चतुर्थ अध्याय में हम देख चुके हैं कि लाखों वर्ष पूर्व उन्होंने सूर्यदेव विवस्वान को जो उपदेश दिया था वह उन्हें स्मरण है। कृष्ण प्रत्येक जीव को जानते हैं क्योंकि वे सबों के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित हैं। किन्तु अल्पज्ञानी प्रत्येक जीव के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित होने तथा श्रीभगवान् के रूप में उपस्थित रहने पर भी श्रीकृष्ण को परमपुरुष के रूप में नहीं जान पाते, भले ही वे निर्विशेष ब्रह्म को क्यों न समझ लेते हों। निस्सन्देह श्रीकृष्ण का दिव्य शरीर अनश्वर है। वे सूर्य के समान हैं और माया बादल के समान है। भौतिक जगत् में हम सूर्य को देखते हैं, बादलों को देखते हैं और विभिन्न नक्षत्र तथा ग्रहों को देखते हैं। आकाश में बादल इन सबों को अल्पकाल के लिए ढक सकता है, किन्तु यह आवरण हमारी दृष्टि तक ही सीमित होता है। सूर्य, चन्द्रमा तथा तारे सचमुच ढके नहीं होते। इसी प्रकार माया परमेश्वर को आच्छादित नहीं कर सकती। वे अपनी अन्तरंगा शक्ति के कारण अल्पज्ञों को दृश्य नहीं होते। जैसा कि इस अध्याय के तृतीय श्लोक में कहा गया है कि करोड़ों पुरुषों में से कुछ ही सिद्ध बनने का प्रयत्न करते हैं और सहस्रों ऐसे सिद्ध पुरुषों में से कोई एक भगवान् कृष्ण को समझ पाता है। भले ही कोई निराकार ब्रह्म या अन्तर्यामी परमात्मा की अनुभूति के कारण सिद्ध हो ले, किन्तु कृष्णभावनामृत के बिना वह भगवान् श्रीकृष्ण को समझ ही नहीं सकता।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप।। २७।।

इच्छा—इच्छा; **द्वेष**—तथा घृणा; **समुत्थेन**—उदय होने से; **द्वन्द्व**—द्वन्द्व से; **मोहेन**—मोह के द्वारा; **भारत**—हे भरतवंशी; **सर्व**—सभी; **भूतानि**—जीव; **सम्मोहम्**—मोह को; **सर्गे**—जन्म लेकर; **यान्ति**—जाते हैं, प्राप्त होते हैं; **परन्तप**—हे शत्रुओं के विजेता।

हे भरतवंशी! हे शत्रुविजेता! समस्त जीव जन्म लेकर इच्छा तथा घृणा से उत्पन्न द्वन्द्वों से मोहग्रस्त होकर मोह को प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य : जीव की स्वाभाविक स्थिति शुद्धज्ञान रूप परमेश्वर की अधीनता है। मोहवश जब मनुष्य इस शुद्धज्ञान से दूर हो जाता है तो वह माया के वशीभूत हो जाता है और

भगवान् को नहीं समझ पाता। यह माया इच्छा तथा घृणा के द्वन्द्व रूप में प्रकट होती है। इसी इच्छा तथा घृणा के कारण मनुष्य परमेश्वर से तदाकार होना चाहता है और भगवान् के रूप में कृष्ण से ईर्ष्या करता है। किन्तु शुद्धभक्त इच्छा तथा घृणा से मोहग्रस्त नहीं होते अतः वे समझ सकते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण अपनी अन्तरंगाशक्ति से प्रकट होते हैं। पर जो द्वन्द्व तथा अज्ञान के कारण मोहग्रस्त हैं, वे यह सोचते हैं कि भगवान् भौतिक (अपरा) शक्तियों द्वारा उत्पन्न होते हैं। यही उनका दुर्भाग्य है। ऐसे मोहग्रस्त व्यक्ति मान-अपमान, दुख-सुख, स्त्री-पुरुष, अच्छा-बुरा, आनन्द-पीड़ा जैसे द्वन्द्वों में रहते हुए सोचते रहते हैं "यह मेरी पत्नी है, यह मेरा घर है, मैं इस घर का स्वामी हूँ, मैं इस स्त्री का पति हूँ।" ये ही मोह के द्वन्द्व हैं। जो लोग ऐसे द्वन्द्वों से मोहग्रस्त रहते हैं, वे निपट मूर्ख हैं और वे भगवान् को नहीं समझ सकते।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ २८॥

येषाम्—जिन; **तु**—लेकिन; **अन्त-गतम्**—पूर्णतया विनष्ट; **पापम्**—पाप; **जनानाम्**—मनुष्यों का; **पुण्य**—पवित्र; **कर्मणाम्**—जिनके पूर्व कर्म; **ते**—वे; **द्वन्द्व**—द्वैत के; **मोह**—मोह से; **निर्मुक्ताः**—मुक्त; **भजन्ते**—भक्ति में तत्पर होते हैं; **माम्**—मुझको; **दृढ-व्रताः**—संकल्पपूर्वक।

जिन मनुष्यों ने पूर्वजन्मों में तथा इस जन्म में पुण्यकर्म किये हैं और जिनके पापकर्मों का पूर्णतया उच्छेदन हो चुका होता है, वे मोह के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते हैं और वे संकल्पपूर्वक मेरी सेवा में तत्पर होते हैं।

तात्पर्य : इस अध्याय में उन लोगों का उल्लेख है जो दिव्य पद को प्राप्त करने के अधिकारी हैं। जो पापी, नास्तिक, मूर्ख तथा कपटी हैं उनके लिए इच्छा तथा घृणा के द्वन्द्व को पार कर पाना कठिन है। केवल ऐसे पुरुष भक्ति स्वीकार करके क्रमशः भगवान् के शुद्धज्ञान को प्राप्त करते हैं, जिन्होंने धर्म के विधि-विधानों का अभ्यास करने, पुण्यकर्म करने तथा पापकर्मों के जीतने में अपना जीवन लगाया है। फिर वे क्रमशः भगवान् का ध्यान समाधि में करते हैं। आध्यात्मिक पद पर आसीन होने की यही विधि है। शुद्धभक्तों की संगति में कृष्णभावनामृत के अन्तर्गत ही ऐसी पद प्राप्ति सम्भव है, क्योंकि महान भक्तों की संगति से ही मनुष्य मोह से उबर सकता है।

श्रीमद्भागवत में (५.५.२) कहा गया है कि यदि कोई सचमुच मुक्ति चाहता है तो उसे भक्तों की सेवा करनी चाहिए (*महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः*), किन्तु जो भौतिकतावादी पुरुषों की संगति करता है वह संसार के गहन अंधकार की ओर अग्रसर होता रहता है (*तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्*)। भगवान् के सारे भक्त विश्व भर का भ्रमण इसीलिए करते हैं जिससे वे बद्धजीवों को उनके मोह से उबार सकें। मायावादी यह नहीं जान पाते कि परमेश्वर के अधीन अपनी स्वाभाविक स्थिति को भूलना ही ईश्वरीय नियम की सबसे बड़ी अवहेलना है। जब तक वह अपनी स्वाभाविक स्थिति को पुनः प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक परमेश्वर को समझ पाना या संकल्प के साथ उनकी दिव्य प्रेमाभक्ति में पूर्णतया प्रवृत्त हो पाना कठिन है।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ २९॥

जरा—वृद्धावस्था से; **मरण**—तथा मृत्यु से; **मोक्षाय**—मुक्ति के लिए; **माम्**—मुझको, मेरे; **आश्रित्य**—आश्रय बनाकर, शरण लेकर; **यतन्ति**—प्रयत्न करते हैं; **ये**—जो; **ते**—ऐसे व्यक्ति; **ब्रह्म**—ब्रह्म; **तत्**—वास्तव में उस; **विदुः**—वे जानते हैं; **कृत्स्नम्**—सब कुछ; **अध्यात्मम्**—दिव्य; **कर्म**—कर्म; **च**—भी; **अखिलम्**—पूर्णतया।

जो जरा तथा मृत्यु से मुक्ति पाने के लिए यत्नशील रहते हैं, वे बुद्धिमान व्यक्ति मेरी भक्ति की शरण ग्रहण करते हैं। वे वास्तव में ब्रह्म हैं क्योंकि वे दिव्य कर्मों के विषय में पूरी तरह से जानते हैं।

तात्पर्य : जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग इस भौतिक शरीर को सताते हैं, आध्यात्मिक शरीर को नहीं। आध्यात्मिक शरीर के लिए न जन्म है, न मृत्यु, न जरा, न रोग। अतः जिसे आध्यात्मिक शरीर प्राप्त हो जाता है वह भगवान् का पार्षद बन जाता है और नित्य भक्ति करता है। वही मुक्त है। *अहं ब्रह्मास्मि*—मैं आत्मा हूँ। कहा गया है कि मनुष्य को चाहिए कि वह यह समझे कि मैं ब्रह्म या आत्मा हूँ। जीवन का यह ब्रह्मबोध ही भक्ति है, जैसा कि इस श्लोक में कहा गया है। शुद्धभक्त ब्रह्म पद पर आसीन होते हैं और वे दिव्य कर्मों के विषय में सब कुछ जानते रहते हैं।

भगवान् की दिव्यसेवा में रत रहने वाले चार प्रकार के अशुद्ध भक्त हैं जो अपने-अपने लक्ष्यों को प्राप्त करते हैं और भगवत्कृपा से जब वे पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हो जाते हैं, तो परमेश्वर की संगति का लाभ उठाते हैं। किन्तु देवताओं के उपासक कभी भी भगवद्धाम नहीं पहुँच पाते। यहाँ तक कि अल्पज्ञ ब्रह्मभूत व्यक्ति भी कृष्ण के परमधाम, गोलोक वृन्दावन को प्राप्त नहीं कर पाते। केवल ऐसे व्यक्ति जो कृष्णभावनामृत में कर्म करते हैं (*माम् आश्रित्य*) वे ही ब्रह्म कहलाने के अधिकारी होते हैं, क्योंकि वे सचमुच ही कृष्णधाम पहुँचने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों को कृष्ण के विषय में कोई भ्रान्ति नहीं रहती और वे सचमुच ब्रह्म हैं।

जो लोग भगवान् के अर्चा (स्वरूप) की पूजा करने में लगे रहते हैं या भवबन्धन से मुक्ति पाने के लिए निरन्तर भगवान् का ध्यान करते हैं, वे भी ब्रह्म अधिभूत आदि के तात्पर्य को समझते हैं, जैसा कि भगवान् ने अगले अध्याय में बताया है।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ ३०॥

स-अधिभूत—तथा भौतिक जगत् को चलाने वाले सिद्धान्त; **अधिदैवम्**—समस्त देवताओं को नियन्त्रित करने वाले; **माम्**—मुझको; **स-अधियज्ञम्**—तथा समस्त यज्ञों को नियन्त्रित करने वाले; **च**—भी; **ये**—जो; **विदुः**—जानते हैं; **प्रयाण**—मृत्यु के; **काले**—समय में; **अपि**—भी; **च**—तथा; **माम्**—मुझको; **ते**—वे; **विदुः**—जानते हैं; **युक्त-चेतसः**—जिनके मन मुझमें लगे हैं।

जो मुझ परमेश्वर को मेरी पूर्ण चेतना में रहकर मुझे जगत् का, देवताओं का तथा

समस्त यज्ञविधियों का नियामक जानते हैं, वे अपनी मृत्यु के समय भी मुझ भगवान् को जान और समझ सकते हैं।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत में कर्म करने वाले मनुष्य कभी भी भगवान् को पूर्णतया समझने के पथ से विचलित नहीं होते। कृष्णभावनामृत के दिव्य सान्निध्य से मनुष्य यह समझ सकता है कि भगवान् किस तरह भौतिक जगत् तथा देवताओं तक के नियामक हैं। धीरे-धीरे ऐसी दिव्य संगति से मनुष्य का भगवान् में विश्वास बढ़ता है, अतः मृत्यु के समय ऐसा कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कृष्ण को कभी भुला नहीं पाता। अतएव वह सहज ही भगवद्धाम गोलोक वृन्दावन को प्राप्त होता है।

यह सातवाँ अध्याय विशेष रूप से बताता है कि कोई किस प्रकार से पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हो सकता है। कृष्णभावना का शुभारम्भ ऐसे व्यक्तियों के सान्निध्य से होता है जो कृष्णभावनाभावित होते हैं। ऐसा सान्निध्य आध्यात्मिक होता है और इससे मनुष्य प्रत्यक्ष भगवान् के संसर्ग में आता है और भगवत्कृपा से वह कृष्ण को भगवान् समझ सकता है। साथ ही वह जीव के वास्तविक स्वरूप को समझ सकता है और यह समझ सकता है कि किस प्रकार जीव कृष्ण को भुलाकर भौतिक कार्यों में उलझ जाता है। सत्संगति में रहने से कृष्णभावना के क्रमिक विकास से जीव यह समझ सकता है कि किस प्रकार कृष्ण को भुलाने से वह प्रकृति के नियमों द्वारा बद्ध हुआ है। वह यह भी समझ सकता है कि यह मनुष्य-जीवन कृष्णभावनामृत को पुनः प्राप्त करने के लिए मिला है, अतः इसका सदुपयोग परमेश्वर की अहैतुकी कृपा प्राप्त करने के लिए करना चाहिए।

इस अध्याय में जिन अनेक विषयों की विवेचना की गई है वे हैं—दुख मे पड़ा हुआ मनुष्य, जिज्ञासु मानव, अभावग्रस्त मानव, ब्रह्म ज्ञान, परमात्मा ज्ञान, जन्म, मृत्यु तथा रोग से मुक्ति एवं परमेश्वर की पूजा। किन्तु जो व्यक्ति वास्तव में कृष्णभावनामृत को प्राप्त है, वह विभिन्न विधियों की परवाह नहीं करता। वह सीधे कृष्णभावनामृत के कार्यों में प्रवृत्त होता है और उसी से भगवान् कृष्ण के नित्य दास के रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करता है। ऐसी अवस्था में वह शुद्धभक्ति में परमेश्वर के श्रवण तथा गुणगान में आनन्द पाता है। उसे पूर्ण विश्वास रहता है कि ऐसा करने से उसके सारे उद्देश्यों की पूर्ति होगी। ऐसी दृढ़ श्रद्धा *दृढव्रत* कहलाती है और यह भक्तियोग या दिव्य प्रेमाभक्ति की शुरुआत होती है। समस्त शास्त्रों का भी यही मत है। *भगवद्गीता* का यह सातवाँ अध्याय इसी निश्चय का सारांश है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के सातवें अध्याय "भगवद्ज्ञान" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*

अध्याय आठ

भगवत्प्राप्ति

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥१॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; **किम्**—क्या; **तत्**—वह; **ब्रह्म**—ब्रह्म; **किम्**—क्या; **अध्यात्मम्**—आत्मा; **किम्**—क्या; **कर्म**—सकाम कर्म; **पुरुष-उत्तम**—हे परमपुरुष; **अधि-भूतम्**—भौतिक जगत्; **च**—तथा; **किम्**—क्या; **प्रोक्तम्**—कहलाता है; **अधि-दैवम्**—देवतागण; **किम्**—क्या; **उच्यते**—कहलाता है।

अर्जुन ने कहा—हे भगवान्! हे पुरुषोत्तम! ब्रह्म क्या है? आत्मा क्या है? सकाम कर्म क्या है? यह भौतिक जगत् क्या है? तथा देवता क्या हैं? कृपा करके यह सब मुझे बताइये।

तात्पर्य : इस अध्याय में भगवान् कृष्ण अर्जुन के द्वारा पूछे गये, "ब्रह्म क्या है?" आदि प्रश्नों का उत्तर देते हैं। भगवान् कर्म, भक्ति तथा योग और शुद्ध भक्ति की भी व्याख्या करते हैं। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि परम सत्य ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के

नाम से जाना जाता है। साथ ही जीवात्मा या जीव को ब्रह्म भी कहते हैं। अर्जुन आत्मा के विषय में भी पूछता है, जिससे शरीर, आत्मा तथा मन का बोध होता है। वैदिक कोश (निरुक्त) के अनुसार आत्मा का अर्थ मन, आत्मा, शरीर तथा इन्द्रियाँ भी होता है।

अर्जुन ने परमेश्वर को पुरुषोत्तम या परम पुरुष कहकर सम्बोधित किया है, जिसका अर्थ यह होता है कि वह ये सारे प्रश्न अपने एक मित्र से नहीं, अपितु परमपुरुष से, उन्हें परम प्रमाण मानकर, पूछ रहा था, जो निश्चित उत्तर दे सकते थे।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ २॥

अधियज्ञः—यज्ञ का स्वामी; **कथम्**—किस तरह; **कः**—कौन; **अत्र**—यहाँ; **देहे**—शरीर में; **अस्मिन्**—इस; **मधुसूदन**—हे मधुसूदन; **प्रयाण-काले**—मृत्यु के समय; **च**—तथा; **कथम्**—कैसे; **ज्ञेयः असि**—जाने जा सकते हो; **नियत-आत्मभिः**—आत्मसंयमी के द्वारा।

हे मधुसूदन! यज्ञ का स्वामी कौन है और वह शरीर में कैसे रहता है? और मृत्यु के समय भक्ति में लगे रहने वाले आपको कैसे जान पाते हैं?

तात्पर्य : *अधियज्ञ* का तात्पर्य इन्द्र या विष्णु हो सकता है। विष्णु समस्त देवताओं में, जिनमें ब्रह्मा तथा शिव सम्मिलित हैं, प्रधान देवता हैं और इन्द्र प्रशासक देवताओं में प्रधान हैं। इन्द्र तथा विष्णु दोनों की पूजा यज्ञ द्वारा की जाती है। किन्तु अर्जुन प्रश्न करता है कि वस्तुतः यज्ञ का स्वामी कौन है और भगवान् किस तरह जीव के शरीर के भीतर निवास करते हैं?

अर्जुन ने भगवान् को मधुसूदन कहकर सम्बोधित किया क्योंकि कृष्ण ने एक बार मधु नामक असुर का वध किया था। वस्तुतः ये सारे प्रश्न, जो शंका के रूप में हैं, अर्जुन के मन में नहीं उठने चाहिए थे, क्योंकि अर्जुन एक कृष्णभावनाभावित भक्त था। अतः ये सारी शंकाएँ असुरों के सदृश हैं। चूँकि कृष्ण असुरों के मारने में सिद्धहस्त थे, अतः अर्जुन उन्हें मधुसूदन कहकर सम्बोधित करता है, जिससे कृष्ण उस के मन में उठने वाली समस्त आसुरी शंकाओं को नष्ट कर दें।

इस श्लोक का *प्रयाणकाले* शब्द भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अपने जीवन में हम जो भी करते हैं, उसकी परीक्षा मृत्यु के समय होनी है। अर्जुन उन लोगों के विषय में जो निरन्तर कृष्णभावनामृत में लगे रहते हैं यह जानने के लिए अत्यन्त इच्छुक है कि अन्त समय उनकी क्या दशा होगी? मृत्यु के समय शरीर के सारे कार्य रुक जाते हैं और मन सही दशा में नहीं रहता। इस प्रकार शारीरिक स्थिति बिगड़ जाने से हो सकता है कि मनुष्य परमेश्वर का स्मरण न कर सके। परम भक्त महाराज कुलशेखर प्रार्थना करते हैं, "हे भगवान्! इस समय मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ। अच्छा हो कि मेरी मृत्यु इसी समय हो जाय जिससे मेरा मन रूपी हंस आपके चरणकमलोंरूपी नाल के भीतर प्रविष्ट हो सके।" यह रूपक इसलिए प्रयुक्त किया गया है क्योंकि हंस, जो एक जल पक्षी है, वह कमल के पुष्पों को कुतरने में आनन्द का अनुभव करता है, इस तरह वह कमलपुष्प

के भीतर प्रवेश करना चाहता है। महाराज कुलशेखर भगवान् से कहते हैं, "इस समय मेरा मन स्वस्थ है और मैं भी पूरी तरह स्वस्थ हूँ। यदि मैं आपके चरणकमलों का चिन्तन करते हुए तुरन्त मर जाऊँ तो मुझे विश्वास है कि आपके प्रति मेरी भक्ति पूर्ण हो जायेगी, किन्तु यदि मुझे अपनी सहज मृत्यु की प्रतीक्षा करनी पड़े तो मैं नहीं जानता कि क्या होगा क्योंकि उस समय मेरा शरीर कार्य करना बन्द कर देगा, मेरा गला रुँध जायेगा और मुझे पता नहीं कि मैं आपके नाम का जप कर पाऊँगा या नहीं। अच्छा यही होगा कि मुझे तुरन्त मर जाने दें।" अर्जुन प्रश्न करता है कि ऐसे समय मनुष्य किस तरह कृष्ण के चरणकमलों में अपने मन को स्थिर कर सकता है?

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ ३॥

श्रीभगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **अक्षरम्**—अविनाशी; **ब्रह्म**—ब्रह्म; **परमम्**—दिव्य; **स्वभावः**—सनातन प्रकृति; **अध्यात्मम्**—आत्मा; **उच्यते**—कहलाता है; **भूत-भाव-उद्भव-करः**—जीवों के भौतिक शरीर को उत्पन्न करने वाला; **विसर्गः**—सृष्टि; **कर्म**—सकाम कर्म; **संज्ञितः**—कहलाता है।

भगवान् ने कहा—अविनाशी और दिव्य जीव ब्रह्म कहलाता है और उसका नित्य स्वभाव अध्यात्म या आत्म कहलाता है। जीवों के भौतिक शरीर से सम्बन्धित गतिविधि कर्म या सकाम कर्म कहलाती है।

तात्पर्य : ब्रह्म अविनाशी तथा नित्य है और इसका विधान कभी भी नहीं बदलता। किन्तु ब्रह्म से भी परे परब्रह्म होता है। ब्रह्म का अर्थ है जीव तथा परब्रह्म का अर्थ भगवान् है। जीव का स्वरूप भौतिक जगत् में उसकी स्थिति से भिन्न होता है। भौतिक चेतना में उसका स्वभाव पदार्थ पर प्रभुत्व जताना है, किन्तु आध्यात्मिक चेतना या कृष्णभावनामृत में उसकी स्थिति परमेश्वर की सेवा करना है। जब जीव भौतिक चेतना में होता है तो उसे इस संसार में विभिन्न प्रकार के शरीर धारण करने पड़ते हैं। यह भौतिक चेतना के कारण कर्म अथवा विविध सृष्टि कहलाता है।

वैदिक साहित्य में जीव को जीवात्मा तथा ब्रह्म कहा जाता है, किन्तु उसे कभी परब्रह्म नहीं कहा जाता। जीवात्मा विभिन्न स्थितियाँ ग्रहण करता है—कभी वह अन्धकार पूर्ण भौतिक प्रकृति से मिल जाता है और पदार्थ को अपना स्वरूप मान लेता है तो कभी वह परा आध्यात्मिक प्रकृति के साथ मिल जाता है। इसीलिए वह परमेश्वर की तटस्था शक्ति कहलाता है। भौतिक या आध्यात्मिक प्रकृति के साथ अपनी पहचान के अनुसार ही उसे भौतिक या आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होता है। भौतिक प्रकृति में वह चौरासी लाख योनियों में से कोई भी शरीर धारण कर सकता है, किन्तु आध्यात्मिक प्रकृति में उसका एक ही शरीर होता है। भौतिक प्रकृति में वह अपने कर्म के अनुसार कभी मनुष्य रूप में प्रकट होता है तो कभी देवता, पशु, पक्षी आदि के रूप में प्रकट होता है। स्वर्गलोक की प्राप्ति तथा वहाँ का सुख भोगने की इच्छा से वह कभी-कभी यज्ञ सम्पन्न करता है, किन्तु जब उसका पुण्य क्षीण हो जाता है तो वह पुनः मनुष्य रूप

में पृथ्वी पर वापस आ जाता है। यह प्रक्रिया कर्म कहलाती है।

छांदोग्य उपनिषद् में वैदिक यज्ञ-अनुष्ठानों का वर्णन मिलता है। यज्ञ की वेदी में पाँच अग्नियों को पाँच प्रकार की आहुतियाँ दी जाती हैं। ये पाँच अग्नियाँ स्वर्गलोक, बादल, पृथ्वी, मनुष्य तथा स्त्री रूप मानी जाती हैं और श्रद्धा, सोम, वर्षा, अन्न तथा वीर्य ये पाँच प्रकार की आहुतियाँ हैं।

यज्ञ प्रक्रिया में जीव अभीष्ट स्वर्गलोकों की प्राप्ति के लिए विशेष यज्ञ करता है और उन्हें प्राप्त करता है। जब यज्ञ का पुण्य क्षीण हो जाता है तो जीव पृथ्वी पर वर्षा के रूप में उतरता है और अन्न का रूप ग्रहण करता है। इस अन्न को मनुष्य खाता है जिससे यह वीर्य में परिणत होता है जो स्त्री के गर्भ में जाकर फिर से मनुष्य का रूप धारण करता है। यह मनुष्य पुनः यज्ञ करता है और पुनः वही चक्र चलता है। इस प्रकार जीव शाश्वत रीति से आता और जाता रहता है। किन्तु कृष्णभावनाभावित पुरुष ऐसे यज्ञों से दूर रहता है। वह सीधे कृष्णभावनामृत ग्रहण करता है और इस प्रकार ईश्वर के पास वापस जाने की तैयारी करता है।

भगवद्गीता के निर्विशेषवादी भाष्यकार बिना कारण के कल्पना करते हैं कि इस जगत् में ब्रह्म जीव का रूप धारण करता है और इसके समर्थन में वे *गीता* के पँद्रहवें अध्याय के सातवें श्लोक को उद्धृत करते हैं। किन्तु इस श्लोक में भगवान् जीव को "मेरा शाश्वत अंश" भी कहते हैं। भगवान् का यह अंश, जीव, भले ही भौतिक जगत् में आ गिरता है, किन्तु परमेश्वर (अच्युत) कभी नीचे नहीं गिरता। अतः यह विचार कि ब्रह्म जीव का रूप धारण करता है ग्राह्य नहीं है। यह स्मरण रखना होगा कि वैदिक साहित्य में ब्रह्म (जीवात्मा) को परब्रह्म (परमेश्वर) से पृथक् माना जाता है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ ४॥

अधिभूतम्—भौतिक जगत्; **क्षरः**—निरन्तर परिवर्तनशील; **भावः**—प्रकृति; **पुरुषः**—सूर्य, चन्द्र जैसे समस्त देवताओं सहित विराट रूप; **च**—तथा; **अधिदैवतम्**—अधिदैव नामक; **अधियज्ञः**—परमात्मा; **अहम्**—मैं (कृष्ण); **एव**—निश्चय ही; **अत्र**—इस; **देहे**—शरीर में; **देह-भृताम्**—देहधारियों में; **वर**—हे श्रेष्ठ।

हे देहधारियों में श्रेष्ठ! निरन्तर परिवर्तनशील यह भौतिक प्रकृति अधिभूत (भौतिक अभिव्यक्ति) कहलाती है। भगवान् का विराट रूप, जिसमें सूर्य तथा चन्द्र जैसे समस्त देवता सम्मिलित हैं, अधिदैव कहलाता है। तथा प्रत्येक देहधारी के हृदय में परमात्मा स्वरूप स्थित मैं परमेश्वर अधियज्ञ (यज्ञ का स्वामी) कहलाता हूँ।

तात्पर्य : यह भौतिक प्रकृति निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। सामान्यतः भौतिक शरीरों को छह अवस्थाओं से निकलना होता है—वे उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं, कुछ काल तक रहते हैं, कुछ गौण पदार्थ उत्पन्न करते हैं, क्षीण होते हैं और अन्त में विलुप्त हो जाते हैं। यह भौतिक प्रकृति *अधिभूत* कहलाती है। यह किसी निश्चित समय में उत्पन्न की जाती है और किसी निश्चित समय में विनष्ट कर दी जाती है। परमेश्वर के विराट